प्रकाशकीय

आज देश में हिंसात्मक प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं। आए दिन आगजनी, तोड़फोड़ व लूटमार के समाचार सुनने को मिल रहे हैं। जन-मानस में वैचारिक अस्थिरता एवं अनुशासनहीनता लक्षित होती है। इसका मुख्य कारण है, चित्त वृत्तियों की एकाग्रता का न होना। आज का मानव भटक गया है, वह शांति के लिए कृत्रिम साधनों को प्रयोग में लाता है किन्तु इन साधनों से उसका मन और भी अशान्त होता जा रहा है। योग आज के व्यस्त एवं अशान्त जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, इस बात का अनुभव योग के प्रयोगों द्वारा साध्वीश्री राजिमतीजी के सान्निध्य में प्रत्यक्ष रूप से किया गया। साध्वीश्री ने प्राचीन योग-पद्धतियों से लेकर आज तक की विकसित योग प्रणालियों का गहन अध्ययन किया है। उनके प्रवचन में ही नहीं अपितु समग्र दैनिक चर्या में योग प्रसूत उत्कृष्ट संयम एवं सौम्यता की झलक दिखाई देती है। युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी द्वारा निर्धारित चार निकायों में आप साधना निकाय की व्यवस्थापिका रह चुकी हैं। योग-साधिका के रूप में आपने निरन्तर विकास किया है।

पिछले दो वर्षों में जयपुर के अनेक पुरुषों, महिलाओं, युवकों तथा युवतियों ने योग के अनुभूत प्रयोगों का प्रशिक्षण प्राप्त किया तथा शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों से मुक्ति पायी। सचमुच में साध्वीश्री का प्रवास जयपुर के लिए वरदान स्वरूप था। इस वरदान की ऐतिहासिक उपलब्धियां असाधारण थीं। हम आचार्य प्रवर के प्रति श्रद्धानत हैं जिनके अनुग्रह से हमें यह शुभ अवसर प्राप्त हो सका।

आशीर्वचन

योग-विद्या भारतीय विद्याओं की अप्रतिम उपलब्धि है। या यह कहा जा सकता है कि यह अप्रतिम उपलब्धि का साधन है। साधन के साथ साधना की अनिवार्यता है। साधनाहीन साधन साध्य की संप्राप्ति में सक्षम नहीं हो सकता। योग विद्या आत्म विद्या का एक अंग है। इसकी अन्तिम फलान्विति समाधि है। शरीर, इन्द्रिय, मन और प्राणों का अविकल समाधान समाधि की परिपूर्णता है। समाधि की स्थिति में संकल्प विकल्पों की परम्परा छूट जाती है। उत्ताप समाप्त हो जाता है। सहजता बढ़ती है और अप्रमाद सध जाता है।

जैन साधना पद्धति समाधि के अभीप्सु साधकों को सही दिशा दे सकती है। जैन आगमों में यत्र तत्र एसे तत्त्व विकीर्ण हैं। उनका व्यवस्थित समाचयन साधना के क्षेत्र में नया आलोक बिखेरेगा, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। इस बार दिल्ली में अध्यात्म साधना केन्द्र के प्रशिक्षण और प्रयोग सूत्रों ने इस दिशा में नई सम्भावनाओं को जन्म दिया है। हमारे धर्म-संघ के अनेक साधु-साध्वियां इन संभावनाओं को गतिशील बनाने में संलग्न हैं। साध्वी राजिमती उनमें एक है। यह केवल योगविद्या की अध्येत्री ही नहीं किन्तु उसके प्रयोगों में सतत संलग्न भी है, साधना में निरत है। साध्वी राजिमती ने अपने अध्ययन और अनुभवों के योग से "योग की प्रथम किरण" नामक ग्रन्थ तैयार किया है। प्रस्तुत कृति योग विद्या के जिज्ञासु व्यक्तियों को उनकी गति में प्रेरणा दे इसी आशा के साथ

आचार्य तुलसी

अणुव्रत विहार
नई दिल्ली
24 जून 1974

दो शब्द

केशी ने गौतम से पूछा—गौतम! घोर अग्नियां प्रज्वलित हो रही हैं, जो शरीर में रहती हुई मनुष्य को जला रही हैं, उन्हें तुमने कैसे बुझाया? गौतम ने कहा—महामेघ से उत्पन्न निर्झर से सब जलों में उत्तम जल लेकर मैं उन्हें सींचता रहता हूं। वे सींची हुई अग्नियां मुझे नहीं जलातीं।

अग्नि क्या है और जल क्या है?—यह पूछने पर गौतम ने कहा—

कषायों को अग्नि कहा गया है। श्रुत, शील और तप यह जल है। श्रुत की धारा से आहत किए जाने पर निस्तेज बनी हुई वे (अग्नियां) मुझे नहीं जलातीं।

केशी ने दूसरा प्रश्न किया—यह साहसिक, भयंकर, दुष्ट अश्व दौड़ रहा है। गौतम! तुम उस पर चढ़े हुए हो। वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता?

गौतम बोले—मैंने इसे श्रुत की लगाम से बांध लिया है। यह जब उन्मार्ग की ओर दौड़ता है तब मैं इस पर रोक लगा देता हूं। इसलिए मेरा अश्व उन्मार्ग में नहीं जाता, मार्ग में ही चलता है।

अश्व क्या है—यह पूछने पर गौतम ने कहा—

यह जो साहसिक, भयंकर, दुष्ट अश्व दौड़ रहा है, वह मन है। उसे मैं भली भांति अपने अधीन रखता हूं। धर्म शिक्षा के द्वारा वह उत्तम जाति का अश्व हो गया है।

कषाय की अग्नि को बुझा देना और मन को समाहित कर लेना साधना है। यही धर्म है। प्रस्तुत ग्रंथ से इस साधना के चार मार्ग फलित होते हैं—

1 श्रुत 3 तप
2 शील 4 धर्म शिक्षा।

अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व आदि भावनाओं का स्थिर अभ्यास करना श्रुत है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अस्वाद का स्थिर अभ्यास करना शील है।

अपनी ओर से

आज से करीब नौ वर्ष पूर्व आचार्यश्री देहली में चातुर्मास बिता रहे थे। एक दिन साधु-साध्वियों की सम्मिलित गोष्ठी आयोजित हुई जिसमें अध्यात्म उत्क्रांति कारक अनेक प्रसंगों पर चर्चा चली। अन्त में एक प्रश्न उभरा — अष्टांग योग व्यवस्था की तरह क्या जैन दर्शन वैज्ञानिक स्तर पर कोई नया क्रम प्रस्तुत करता है? आचार्यश्री ने तुरन्त जैन दर्शन सम्मत 6 पर्याप्तियों की ओर संकेत करते हुए षडाङ्ग व्यवस्था का निर्देशन दिया। आगे आपने कहा — जिस पर्याप्ति क्रम (शरीर रचना) से हमारा जीवन प्रारम्भ होता है उसी निर्धारित क्रम से यदि उन केन्द्रों में विस्फोट करके सुप्त शक्तियों का उत्थान किया जाए तो सम्भव है मानव स्वयं शक्ति-केन्द्र (पॉवर हाउस) बन जाए। आवश्यकता है पर्याप्ति-योग पर कुछ लिखा जाए। यह हुयी पुस्तक रचना की बात।

इस पुस्तक में पर्याप्ति-योग के अन्तर्गत राजयोग, हठयोग, लय योग, प्राण योग, मन्त्र योग, भावना योग, त्राटक योग, ध्यान योग, स्वाध्याय योग और अन्तर्मौन योग जैसे अनेक योगों का वर्णन हुआ है। साधना का प्रथम चरण है आहार शुद्धि। आहार जैसे हमारे स्थूल शरीर का निर्माण करता है वैसे ही सूक्ष्म शरीरों की अन्तर् रचना में भी सहयोग करता है। आहार पर्याप्ति के साधन से मणिपूर चक्र अर्थात् पाचन संस्थान (पेंक्रियाज) शुद्ध होकर वह प्राण की जागरण सम्भावनाओं को उत्तेजित करता है। आहार से निर्मित नष्ट होने वाले इस नश्वर शरीर का पालन आराधना आदि साधनाओं के प्रकारों से साधा जाता है। कच्चा घड़ा जल धारण में समर्थ नहीं होता। उसे कभी तेज और कभी मन्द आग से तपाया जाता है। यही स्थिति इस मृत्पिण्ड की है। क्षमा आदि विशिष्ट आत्म गुणों की धारणा के लिए इस नश्वर-देह को तप के मृदु और कठोर प्रयोगों में पकाना-तपाना होता है। यह स्पष्ट है — प्राप्त शारीरिक स्वास्थ्य भी ऐन्द्रिक विकारों और सुखाभिमुख चित्तवृत्ति के कारण स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए दूसरे चरण में साधक इन्द्रिय शुद्धि का अभ्यास करता है। हमारे शरीर में एक ऐसी संयोजक कड़ी भी है जो इन्द्रियों और मन के आवागमन-पथ में प्रहरी का काम करती है। मन

अनुक्रम

□ विषय प्रवेश 1-6

साधना का आधार वैराग्य 3

जन योग 4

1 आहार शुद्धि 7-23

आहार और स्वास्थ्य 9

शुद्ध आहार 10

साधक का आहार 12

आहार और उदर शुद्धि 14

वात विसर्जन क्रिया 15

उदर शोधन क्रिया 15

उदर अशुद्धि के कारण 16

असंयम रोग का कारण 17

पाचन और प्रसन्नता 18

तनाव विसर्जन और आहार 19

आहार पाचन एवं स्वर प्रक्रिया 20

मांसाहार से अनर्थ 21

2 शरीर शुद्धि 25-66

शरीर की उपासना 27

शरीर शुद्धि के उपाय 27

आसन 28

आसनों के प्रकार 31

(i) सूक्ष्म क्रियाएं

(ii) स्थूल आसन

ध्यान क्या है ? 125
ध्यान और आसन 127
ध्यान और मौन 129
ध्यान और आदेश 131
ध्यान और कायोत्सर्ग 133
ध्यान और धारणा 140
चक्र 148
ध्यान की पृष्ठभूमि 155
मन की निर्विकल्प अवस्था 161
भीतर कैसे जाए ? 163

7 चित्त शुद्धि 165–171

साधक की दैनन्दिनी 167
दैनिक साधना क्रम 170
दैनिक पर्यालोचन 175
योगाभ्यास के तीन पथ 177
प्राचीन सरल साधना विधियां 179
साधना पद्धति में गमन-योग 181
स्वाध्याय योग 184
संवर योग 186
व्यवसाय योग 187
दैनिक चर्या में अप्रमाद 190
साधना के विघ्न 193

*शब्दानुक्रम 195–197
**साधना के चित्र 199–207

—

योग की प्रथम किरण

विषय प्रवेश

साधना का आधार – वैराग्य

वैराग्य अध्यात्म का पूर्ण रूप है। आत्म रमण सब चाहते हैं, किन्तु अविरक्त की वहां तक पहुँच नहीं होती। जिस त्याग में वैराग्य की सौरभ नहीं वह मात्र वाचिक त्याग है, अन्तस नहीं। इसी आधार पर भगवान महावीर ने धारणा, ध्यान और समाधि की पृष्ठभूमि वैराग्य को माना क्योंकि वैराग्य के बिना स्वरूप जिज्ञासा प्रस्तुत नहीं होती। योग स्वरूप जिज्ञासा का समाधान है। आत्म रमण स्वरूप जिज्ञासा के बाद होता है जिसका क्रम यह है—

1. वैराग्य
2. आत्म रमण (अध्यात्म)

आचार्य शंकर के अनुसार साधना का मूल वैराग्य है। जिसमें वैराग्य नहीं है, वह या तो परमात्मा है अथवा परमात्म द्रोही नास्तिक है। विराग अनासक्ति तथा आत्मौपम्य बुद्धि से परिलक्षित होता है। अनाभोगचर्या नारक्रिया तथा अप्रदायोग इसी से विकसित होते हैं।

वैराग्य मूल स्रोत है। जहां से अनेक उपस्रोत फूटते हैं। शम, दम, तितिक्षा, त्याग, समर्पण आदि सभी वैराग्य के आत्मिक प्रयोग हैं। महावीर जड़ समाधि के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने कहा वैराग्य के साथ-साथ आत्म बोध, चैतन्य-जागरण एवं चित्त का समाधान होना चाहिए। जिस वैराग्य से ये सुपरिणाम नहीं निकलते वह वैराग्य नहीं कुछ और ही है।

शम वैराग्य का प्रथम पाद है। विरागी शान्त होता है। अशान्ति का कारण रागवणा है। जिसकी आत्मरमणा में रुचि है वह विषयों की दुनिया में नहीं भटकता। विषयानुगता में स्वरूप का बोध नहीं होता। अबोध, अपथ का कारण है अतः आत्मज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है। आत्मज्ञान के अभाव में विरागी स्वयं अपनी वृत्तियों में उलझा रहता है अतः वैराग्य और आत्मज्ञान दोनों परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों पक्षों का उचित समायोजन ही प्राणी को विशुद्ध आत्मज्ञानी विरागी बना सकता है वैसे ही यह दोनों परमात्म पद प्राप्ति में सहायक हैं। आत्मज्ञान के लिए शास्त्रों के

है। शरीर में आत्मसाक्षात्कार के मार्ग का नाम ही संवर योग और निर्जरा योग है। संवर योग और निर्जरा-योग एक दूसरे के पूरक हैं। संवर योग के बिना निर्जरा-योग और निर्जरा-योग के बिना संवर योग अपूर्ण है। दोनों का समुचित योग ही आत्मसाक्षात्कार का हेतु है।

कुछ शताब्दियों तक यही संवर और तप प्रधान योग-व्यवस्था रही। तपोयोग मल-प्रक्षालन, ऊर्जा निष्पादन और संचित ऊर्जाओं के संरक्षण का हेतु है। तप के मुख्य बारह प्रकार प्रचलित रहे हैं—

1 अनशन— उपवास से लेकर यथाशक्ति निराहार रहने का अभ्यास।
2 ऊनोदरी— कम खाना, कम बोलना, इच्छायें कम करना तथा क्रोध आदि आवेगों का संयम करना।
3 भिक्षाचरी— अभिग्रह, आवश्यकताओं का स्वल्पीकरण।
4 रसपरित्याग— सरस आहार (विगय) का संयम करना।
5 कायक्लेश— आसन, आतापना आदि से शरीर को कष्ट सहिष्णु बनाने वाली साधनाएं।
6 प्रतिसंलीनता— इन्द्रिय और मन को अन्तर्मुखी बनाने का अभ्यास।
7 प्रायश्चित्त— आत्म-पवित्रता के लिए दोषों का संशोधन।
8 विनय— अहं विजय।
9 वैयावृत्त्य— सेवा, समर्पण, सहयोग का व्यवहार।
10 स्वाध्याय— सद्ग्रन्थों का वाचन।
11 ध्यान— चित्तस्थैर्य का अभ्यास।
12 व्युत्सर्ग— शरीरगत तथा मानसिक तनावों के विसर्जन का अभ्यास।

प्रथम छः बाह्य तपोयोग के प्रकार हैं तथा पिछले छः आभ्यन्तर तपोयोग के। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि इन बारह अंगों की सुव्यवस्थित समुपासना से चित्त-शक्ति का विकास, उसका शोधन, उपचार और रूपान्तरण होता है।

भगवान महावीर ने शरीर निर्माण की दृष्टि से इन्द्रियों की व्याख्या की और कहा—पौद्गलिक (भौतिक) इन्द्रियों का यथार्थ नियमन तप से होता है। इन सोई हुई शक्तियों का विकास ही जीवन के प्रति

1

आहार शुद्धि

आहार और स्वास्थ्य

बुद्ध का आहार

साधक का आहार

आहार और उदर शुद्धि

वात विसर्जन क्रिया

उदर शोधन क्रिया

उदर अशुद्धि के कारण

असंयम रोग का कारण

पाचन और प्रसन्नता

तनाव-विसर्जन और आहार

आहार पाचन एवं स्वर-प्रक्रिया

मांसाहार के अलाभ

आहार और स्वास्थ्य

मानव शरीर की रचना जिस क्रम से हुई है, उसमें आहार के ग्रहण और आत्मीकरण करने के ढंग पूर्ण वैज्ञानिक हैं। आहार, जीवन की प्रथम आवश्यकता है। आहार-शोधन के लिए तपस्या के कुछ प्रयोग अत्यन्त अपेक्षित हैं जैसे—

1 अनशन
2 ऊनोदरी
3 रस-परित्याग
4 भिक्षाचरी

योग-साधना के पूर्व प्रशस्त भूमिका का निर्माण होना अनिवार्य है। अनशन आदि चारों प्रयोगों के उचित अभ्यास से शारीरिक क्षमताएं बढ़ती हैं और सुदृढ़ देहाध्यास क्रमशः क्षीण होता है।

अनशन—कषाय विषय और आहार तीनों का यथाशक्ति निरोध करना अनशन अथवा उपवास है। जहाँ इन्द्रियां चपल और वासनाओं से पीड़ित होती हैं वहां नाड़ी मण्डल पौष्टिक आहार को पाकर भी अस्वस्थ तथा रक्त-दोष (प्रकोप) के कारण विपाक बन जाता है। उपवास से दोषों का निराकरण होता है। दोष निवृत्ति से शरीर बलवान, वीर्यवान तथा पर्याप्त ओजशक्ति पैदा करने के योग्य बनता है। जिस उपवास से शारीरिक और मानसिक वृत्तियों का संतुलन और नियमन नहीं होता, वह मात्र औपचारिक लंघन है आत्म-स्वरूप का हेतु नहीं है। तत्त्वतः, उपवास शरीर-नाशक नहीं अपितु चित्त-शुद्धि और स्फूर्ति का अमोघ साधन है।

ऊनोदरी—खाद्य द्रव्यों में कमी करना तथा तामसिक और अति मात्रा आहार का वर्जन करना। शास्त्रों में अवमौदर्य की परिभाषा इस प्रकार है— यागनदल नजिकारिप्या गुजिगिरायां दपकारिप्या निराकृति अवमोदयम। (जिस आहार में शक्ति और दर्प का भाव पैदा होता हो, उस आहार का त्याग—मन, वचन, कर्म से परिहार करना)

भिक्षाचरी—(वृत्ति-संक्षेप) इसका दूसरा नाम वृत्तिपरिसंख्यान है, आहार संज्ञा (आसक्ति) पर धीरे धीरे विजय करना।

करने के लिए शुद्ध आहार के सेवन की नितान्त अपेक्षा बतायी है। जब तक आहार शुद्धि नही होती तब तक योगिक क्रियाएं भी उद्देश्य प्राप्ति में उपयोगी सिद्ध नही होती। इसलिए योग-साधना म शुद्ध आहार, मित आहार और सात्विक आहार को प्रमुख स्थान दिया है यथा—

मिताहार विना यस्तु योगारम्भ तु कारयेत्।
नाना रोगो भवत्तस्य किंचिद्योगो न सिद्ध्यति ॥

—घेरंड संहिता श्लोक-16

—उचित भोजन के अभाव में योग, रोग नाशक नही अपितु भयकर रोगों का उत्पादक बन जाता है।

शुद्ध आहार से निर्मित शरीर में ही विभिन्न प्रकार के रोगो से मुकाबला करने की क्षमता रहती है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र कहता है, शुद्ध-आहार ही मनुष्य को अपने पाशविक भावों पर विजय प्राप्त करने के योग्य बनाता है। निरंतर अशुद्ध आहार के सेवन करने से उदर-अशुद्धि और उदर अशुद्धि से अपान-वायु दूषित होती है। वस्तुत, दूषित प्राण और अपान ही अधिकांश शारीरिक मानसिक और आगन्तुक रोगों के कारण बनते है। यही वायु-दोष शरीर मन और चित्त वृत्तियों को चपल और लक्ष्य विमुख करता है। मनुष्य का आहार उसके आचार तथा मानसिक विचारो और स्वभावो पर विशेष प्रभाव डालता है। यह कथा मात्र ही नही प्रत्युत उनका मानवोचित स्वभाव निर्माण और परिवर्तन म शुद्ध आहार एक सफल प्रयोग रहा है। आज पश्चिमी लोग शुद्ध आहार चिकित्सा द्वारा विशेष लाभ उठा रहे हैं। अमेरिका में भयंकर आसुरी वृत्ति वाले मनुष्यों और पशुओं पर स्वभाव परिवर्तन के लिए सात्विक आहार का प्रयोग किया गया। साठ-सत्तर दिनों के लगातार प्रयोग के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मानवीय और पाशविक वृत्तियों में क्रूरता असहनशीलता और स्वार्थपरता सत्तर प्रतिशत अपक्व विकृत और तामसिक आहार के कारण ही आती है जबकि बीस प्रतिशत परिस्थितियों की भिन्नता से और दस प्रतिशत वंशानुक्रम से प्राप्त होती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि इस प्रयोग में पशुओं पर मनुष्यों की अपेक्षा सात्विक आहार का असर जल्दी हुआ। उनकी प्रकृति में अविलम्ब परिवर्तन आया। इसका कारण यह लगता है—मनुष्य की ज्ञानवाही नाड़ियों (चित्त) पर कर्मवाही नाड़ियों की अपेक्षा मल (संस्कार) अधिक जमा होता है जबकि पशुओं में केवल

पदार्थों का सेवन उपयुक्त है जो सुपाच्य, ताजे, निरामिष रसदार और अनुत्तेजक हो। साधक अपनी वृत्तियों को सात्विक तथा सहज बनाए रखने वाले सहायक पदार्थों का चुनाव स्वयं करता है। गीताकार ने जिस प्रकार राजसिक और तामसिक भोजनों का वर्णन करके साधनाशील मुमुक्षु को सावधान किया है उसी प्रकार जैन आगमों ने अवमोदय (अल्पाहार), मिताहार, अनुत्तेजक और रस परित्याग के प्रति भी साधक को सजग किया है। इस प्रकार के आहार से कम से कम शारीरिक और बौद्धिक सतुलन नहीं बिगडता। आपने देखा—बिना भोजन किए आदमी कई महीनों तक जिंदगी का आनन्द लेता हुआ सुखपूर्वक जी सकता है जबकि सतुलित भोजन करने वाला व्यक्ति भी थोड़े ही दिनों में जीवन से निराश होकर बैठ जाता है। प्रकृति विधान के अनुसार अमुक प्रकार का भोजन सात्विक होता है किन्तु मानवीय प्रकृति सात्विक भोजन को असात्विक और असात्विक भोजन को सात्विक रूप में परिवर्तित करने की क्षमता रखती है। यद्यपि जनसाधारण के लिए प्राकृतिक सात्विकता का ही मूल्य है, क्योंकि उसमें बाह्य सात्विकता भरने का कष्ट नहीं होता। इसलिए साधना के प्रारम्भ में समय स्थान सहयोग और आत्मबल से पहले आहार के सम्बन्ध में ध्यान देना आवश्यक है। हमारे प्रतिदिन के भोजन से जिस प्रकार सात धातुएं और वीर्य बनता है उसी प्रकार उन बनी हुई धातुओं से बल, उत्साह, कर्त्तव्य-शक्ति, प्रसन्नता आत्मविश्वास, सहिष्णु शक्ति, ओज, धैर्य और गाम्भीर्य आदि गुणों का उद्भव भी होता है।

हमारी शरीर रचना में मेरुदण्ड और मस्तिष्क दो प्रमुख केन्द्र हैं जिन्हें सात्विक बनाए रखने के लिए भोजन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण सहायक होते हैं। ज्ञानतन्तुओं की शक्ति का जन पौष्टिक और अपौष्टिक आहार घटा और घटा सकता है उसी प्रकार वह उनके आन्तरिक परिमार्जन में भी सहायक सिद्ध हुआ है। इस प्रकार सात्विक आहार शारीरिक मानसिक और मस्तिष्क की शक्ति को स्थिर बनाए रखता है।

अब यहाँ पर साधक को इस बात का स्मरण करा दिया जाना उपयुक्त होगा कि हमारी आमाशय की थैली पर जो भोजन जितना कम बोझ डालेगा और आंतों में जितना कम अवसाद उत्पन्न करेगा वह उदर शुद्धि में उतना ही सहायक सिद्ध हो सकेगा। भोजन-शुद्धि के साथ-साथ

पूर्वक मल विसर्जन के लिए कुछ नियमित योगासन भी किए जाते हैं ताकि उदर प्रणालियां स्वस्थ एवं क्रियाशील बनी रहें। मल शोधन के लिए पूर्वोत्तान, पश्चिमोत्तान, मयूरासन तथा वारिसार की चार क्रियाएं विशेष लाभदायक बतायी गयी हैं। इसके अतिरिक्त अग्निसार, उड्डियान बंध, नौली तथा जीह्वा-व्यायाम आदि भी अत्यन्त उपयोगी हैं। मल विसर्जन की क्रिया के नियमित होने से सौ में से नब्बे प्रतिशत बीमारियों से बचा जा सकता है। जिस अवयव से अधिक काम लिया जाता है वह कुछ दिनों के बाद निष्क्रिय होने लगता है अतः उसे गतिशील तथा बलवान बनाए रखने के लिए उदर शोधक क्रियाएं विशेष जरूरी हैं। वे निम्नोक्त दो क्रियाएं हैं—

1 वातविसर्जन क्रिया   2 उदर शोधन क्रिया।

आचार्य प्रकाश देव के शब्दों में उनकी विधि इस प्रकार है —

वात विसर्जन क्रिया

यह क्रिया प्रातः सोकर उठते ही बिस्तर पर की जाती है। पीठ के बल सीधे लेटकर दोनों भुजाएं शरीर के साथ मिलाकर हथेलियां बिस्तर पर रखकर, दोनों पैरों को परस्पर मिलाकर तानें। धीरे धीरे पैरों को ऊपर उठाकर एड़ियां को जंघा के साथ मिलाएं, फिर घुटनों को धीरे धीरे छाती पर इस प्रकार ले जाएं कि पेट पर गहरा दबाव पड़े। अब दोनों हाथों को घुटनों के ऊपर से आरपार ले जाकर बाजुओं को पकड़ें। पूरक कर ग्रीवा को घुटनों की ओर झुकाते हुए मस्तक से स्पर्श करें। धीरे धीरे पैरों को वापिस लाते हुए भूमि पर फैला दें। पीठ पर आ जाएं। इसी प्रकार बांई ओर यह क्रिया करें। वापिस आते समय भुजाओं को ढीला करके एड़ियों को तानते हुए इस प्रकार आयें कि पेट पर दबाव पड़े। अन्त में शरीर को ढीला छोड़ दें। इस क्रिया से मल विसर्जन में विशेष सुगमता होती है।

उदर शोधन क्रिया

दोनों घुटनों को छाती के साथ मिलाकर हाथों की अंगुलियों को आरपार करके भुजाओं को सीधा रखते हुए बगलों को घुटनों पर टिकाए। कोहनियों को अन्दर तथा भुजाओं को बाहर की ओर दबाते हुए जिह्वा को अन्दर-बाहर करते हैं। करते समय ध्यान रहे कि क्षुद्रान्त्र, बृहदान्त्र और गुदा में कम्पन होने लग जाए।

काठिन्य दूरित पूति मुष्ण पर्युषित तथा ।
अतिशीत चाति चोष्णं भक्ष्यं योगी विवर्जयेत् ॥

योगी इस प्रकार का भोजन त्याग दे जिसका पचना कठिन हो, जो कल्याणकारी न हो, जिसमें दुर्गन्ध हो, जो अति गरम हो, रात्रि का पका हुआ हो तथा अत्यन्त शीतल और उत्तेजक हो।'

अविधि से किया हुआ भोजन पचने में अधिक समय लेता है। स्वास्थ्यविदों ने भोजन करने की कुछ विधियां सुझाई हैं -

1 तन्मना भुञ्जीत—आहार करते समय मन आहार में ही रहना चाहिए।
2 नातिद्रुतमश्नीयात्—बहुत जल्दी-जल्दी नहीं खाना चाहिए।
3 प्रथमं पूजयेदन्नं -प्राप्त आहार को आदर की दृष्टि से देखें।
4 नविशिष्टं मनसा भुञ्जीत—क्रोध, भय, घृणा आदि मनो-भावों में भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस स्थिति में अन्न का सम्यक परिपाक नहीं होता है। कहा भी है -

ईर्ष्या, भय, क्रोध परिरक्षितेन, लुब्धेन रुग्दैन्य निपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेनच सेव्यमानमन्नं न सम्यग् परिपाकमेति ॥

असंयम—रोग का कारण

हमारा लक्ष्य केवल स्वास्थ्य-लाभ नहीं किन्तु संयम है। संयम से प्राप्त स्वास्थ्य स्थिर और प्रगतिशील होता है। संयम के अभाव में सहजप्राप्त स्वास्थ्य भी क्षीण होता रहता है। आधुनिक एलोपैथिक डाक्टर किसी वस्तु विशेष को वात, पित्त और कफ कारक नहीं मानते। उनकी दृष्टि में रोग का मूल कारण कीटाणु हैं, जो हमारे शरीर में भोजन तथा श्वास द्वारा प्रविष्ट होकर रोगोत्पत्ति के कारण बनते हैं। डा० मेकफन ने एनसाइक्लो पीडिया ऑफ फिजिकल कल्चर' में इसका प्रतिवाद करते हुए लिखा है- रोग का मूल कारण रक्त की अशुद्धि है। विषाक्त रक्त रोग पैदा करता है। साधारणतया रक्त विकृति के जिम्मेदार हम ही हैं। विषाक्त पदार्थों के शरीर से बहिष्कृत न होने से रक्त दूषित होता है। यही रक्त दोष वात पित्त और कफ की उत्तेजना का कारण है। होमियोपैथी और आयुर्वेद का

सिद्धान्त उससे भिन्न और आगे है। आयुर्वेद के अनुसार शारीरिक वेगों को धारण करने से तथा मानसिक वेगों के शमन न करने से रोग उत्पन्न होते हैं। मुख्यत रोग चार प्रकार के हैं —

1. शारीरिक 3 आगन्तुक
2 मानसिक 4. स्वाभाविक

रोग की मूल जड आन्तरिक क्रोध भय, घृणा और ईर्ष्या मे है। भगवान महावीर के शब्दों मे, समता सुख है और विषमता दुःख है। स्वास्थ्य, समता और सुख तत्त्वत तीनो एक ही है। स्वास्थ्य विभाजित नहीं हो सकता, वह अखण्ड और एक है। शरीर की स्वस्थता मन की प्रसन्नता का कारण है, और मन की स्वस्थता (सम अवस्था) शरीर की स्वस्थता मे सहायक होती है। इन दोनो के असतुलन से रक्त मे उबाल और स्नायुओ मे तनाव पैदा होता है। यदि उनका मार्गान्तरीकरण अथवा शिथिलीकरण जैसी विधियो से विलयन नही किया जाता है तो शरीर बीमारियों से पीड़ित हो जाता है। मानसिक आवेगो से शरीर की रोग-प्रतिरोधक शक्ति क्षीण होती है। जिससे हमारा शरीर आहार-परिणमन और उत्सर्ग की क्रिया को विधिवत् नही कर सकता। योगशास्त्र के अनुसार शरीर मे (नस-नाड़ियो) रक्त और वीर्य की जितनी तीव्र मांग होगी, उतना ही आहार आत्मीकृत हो सकेगा। यदि हम क्रोध, अहं आदि विकारो से मन को अपवित्र तथा विक्षिप्त नही होने दे तो क्रोधादि जनित रोग उत्पन्न नही हो सकते। वस्तुत मन का सयम ही आरोग्य है। यही स्वास्थ्य है। प्राकृतिक चिकित्सक डाक्टर लुईकुने ने कहा है - स्वस्थ वह है जिसका चित्त प्रसन्न, शरीर शान्त तथा मन उत्तेजनारहित है।

पाचन और प्रसन्नता

जीवन की परिकल्पना मे मानसिक प्रसन्नता बहुत आवश्यक है। प्रसन्न रहने के लिए विशेष प्रकार की सामग्री और अनुकूलताएं अपेक्षित नही, किन्तु उसके लिए केवल मन की समावस्था आवश्यक है। जहां मन विषम (विषयासक्त) होता है वहा बाह्य लगाव (विषयासक्ति) बढ़ता है।

काम, क्रोध, ईर्ष्या, भय, घृणा आदि मनोविकार मन की खुशी को भग करते हैं। बहुत बार उचित खुराक पाकर भी मनुष्य अतृप्ति का

मानसिक अस्वास्थ्य का आधार इन्ही तनावो की अधिकता है। बढे हुए तनाव दिल, दिमाग और शरीर तीनो मे असतुलन पैदा करते है। तनाव-उत्पत्ति के मुख्य चार कारण है —

1. प्रवृत्तियो की बहुलता		3 अत्यधिक परिश्रम

2 चिन्ताए तथा मानसिक आवेग		4. वायु-दोष

तनाव भोजन के पचने मे बाधक है। जब हम तेज चलकर आते है तब स्नायु, श्वास और रक्त तीनो चपल होकर शारीरिक तथा मानसिक व्यग्रता उत्पन्न करते है, धातुए विषम बनती है। साधु के लिए विधान है कि वह गोचरी से आने के बाद भोजन से पूर्व कुछ विश्राम करे। स्थान पर पहुँचने के तुरन्त बाद चतुर्विंशतिस्तव (सौ श्वासोच्छ्वास का ध्यान) करने की परम्परा आज भी है। दुष्प्रवृत्ति के प्रायश्चित्त का वास्तविक अर्थ मन की समावस्था ही है जो श्वास और मन के असतुलन (विषमावस्था) मे नही होती। भगवान महावीर ने मन की उच्चावच अवस्था मे भोजन करने का सर्वथा निषेध किया है। आतो मे जितनी तीव्र ऐठन स्नायुगत तनाव भोजन करने से होती है वैसी कभी-कभी तामसिक आहार के सेवन से नही होती। अत शारीरिक तथा मानसिक तनाव के तत्काल बाद कम कम पाँच मिनट तक कायोत्सर्ग (शिथिलीकरण) करना चाहिए। तनाव-सर्जन की प्रक्रिया, कायोत्सर्ग प्रकरण मे देखे।

आहार-पाचन एवं स्वर-प्रक्रिया

स्वर-विद्या व्यक्ति के सर्वांगीण विकास मे उपयोगी है। इसके समुचित अभ्यास से साधक अखण्ड स्वास्थ्य को प्राप्त करता है। हमारे शरीर मे सबसे प्रमुख सुषुम्णा नाडी है। यह अगो के आदेशो को मन तक पहुँचाती है तथा मस्तिष्क से भी अधिक बलवती तथा हमारे शरीर का महत्वपूर्ण कार्यालय है। इससे दो प्रमुख नाडिया निकलती है :—

1, सवेदक नाडी		2 प्रेरक नाडी

सवेदक नाडी—शरीर के विभिन्न भागो से सुषुम्णा मे सन्देश लाती है। दूसरी प्रेरक नाडी है, जो सुषुणा के नीचे के किनारे से निकलती है। यह सुषुम्णा का सदेश मासपेशियो मे भेजती है। योग-ग्रन्थो मे इन्ही तीनो नाडियो के नाम क्रमश सुषुम्णा, इडा और पिंगला है। इन नाडियो से स्वर का विशेष सम्बन्ध है। नासिका के भीतर से जो श्वास निकलता है

उसका नाम स्वर है। प्रारम्भ में भौंहों के बीच में जो स्थान (चक्र) है वहां श्वास का प्रवेश होता है फिर पिछली वक्रनाल से होकर नाभि तक पहुंचता है। वहां कुछ क्षण रुककर पुनः लौटकर रंध्र पर आता है। यदि स्थिर चित्त होकर उसे पहचान लिया जाए तो शुभाशुभ स्थिति आगन्तुक रोग तथा शरीर क्या कहता है इसकी पूर्व सूचना हो सकती है। आगन्तुक बीमारियां, मानसिक तनाव तथा प्राकृतिक-पर्याय संकेत और समाधान का सामर्थ्य इस स्वर प्रक्रिया में है। स्वास्थ्य की सुरक्षा के अनेक साधन हैं उनमें भोजन भी एक साधन है। भोजन कब करना चाहिए, इसका सामान्य विधान यही है—जब भूख लग जाए। किन्तु स्वर योग के अनुसार भोजन सूर्य स्वर (पिंगला) में करना चाहिए। सूर्य का अर्थ है-अग्नि। जिसका सीधा सम्बन्ध पाचक विभाग से है। इस स्वर में श्वास लेने से रक्त में तेज का प्रवाह बढ़ता है। इड़ा की ओर से श्वास खींचने से चन्द्रमा के समान सहज शीतल प्रभाव शरीर पर होता है। यदि कुछ समय तक लगातार पिंगला-स्वर चले तो शरीर में भयंकर ताप प्रतीत होने लगेगा। बहुत बार बिना किसी विशेष कारण के हाथ पर आग तथा सिर जलने लगता है। इस स्थिति में स्वर परिवर्तन से अकल्पित लाभ होता देखा गया है। भोजन के समय यदि सूर्य-स्वर सहज चलता है तो ठीक है किन्तु भोजन के बाद भी आधा घण्टा तक उसी स्वर को चालू रखा जाए तो भोजन के परिपाक में सुगमता होती है ऐसा अभिमत है। सूर्य-स्वर में किया हुआ भोजन गैस तथा अजीर्ण जैसी भयंकर वायुजन्य बीमारियों से बचाता है।

यदि श्वास प्रश्वास इड़ा नाड़ी पर चल रहा हो तो उसे बाएं पार्श्व पर लेटकर बदला जा सकता है। स्वर परिवर्तन के और भी अन्य उपाय हैं। भोजन के बाद स्नान की सबके लिए समान उपयोगिता नहीं है। स्वस्थ व्यक्ति के लिए बाएं करवट लेटने का विधान है। पानी सूर्य स्वर में नहीं पीया जाता। जलपान के लिए चन्द्र-स्वर उपयुक्त माना गया है। इसी प्रकार मल मूत्र विसर्जन क्रिया में स्वर सहायक होता है। स्वर की प्रतिकूलता में किसी शारीरिक क्रिया को करना स्वरोदय शास्त्र के अनुसार अनेक रोगों को निमंत्रण देना है। भारतीय ऋषि महर्षियों का उन्नत शरीर साधना का मजबूत आधार यही विज्ञान था।

मांसाहार के अलाभ

इसमें संदेह नहीं कि प्रायः विज्ञान तथा डाक्टर युक्तिपूर्वक मांसाहार

को अत्युत्तम सिद्ध करते है, परन्तु ज्यो-ज्यो विज्ञान मे अन्वेषण हो रहे है त्यो-त्यो निरामिष भोजन मनुष्य के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो रहा है। इतना ही नही, अनेक शोधकर्त्ताओं ने दीर्घ-परीक्षण के बाद मासाहार को मानवीय स्वास्थ्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त तथा हानिकारक घोषित किया है।

एक अग्रेज विद्वान मैकफेडन ने मासाहार मे निम्नलिखित अवगुणो का उल्लेख किया है —

1 मासाहार कामवृत्तियो को उत्तेजित करता है तथा इससे अप्राकृतिक जीवन जीने का शोक होता है।

2. यह सहन शक्ति को कम करता है।

3. यह धमनियो और दूसरे तन्तुओ को लचक रहित बनाकर मनुष्य की आयु को कम करता है।

4. चाहे कितने ही स्वस्थ प्राणी का मास लिया जाय, यह सर्वथा असभव है कि शारीरिक-विष की कुछ न कुछ मात्रा उसमे विद्यमान न हो।

5 क्या मारे जाने वाले प्राणी के स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य का निर्णय जनसाधारण कर सकता है? बहुत बार मासाहारी उन्ही बीमारियो से ग्रस्त होता है, ऐसा देखा गया है।

यद्यपि आज पश्चिम के अनेक शाकाहार के पक्षपाती लोग भी अण्डो को अपने भोजन मे सम्मिलित करते है, किन्तु समय आयेगा जब उनको प्रतीत होगा कि शारीरिक और मानसिक उन्नति मे ये मास से भी अधिक हानिकारक है।

आज बहुत सारे अहिंसा की ओट मे जीने वाले लोग, निर्जीव अण्डो के सेवन मे हिंसा नही है, यह प्रमाणित करते है। उनमे जान पैदा नही होने देना हमारा वैज्ञानिक प्रयोग हो सकता है, किन्तु इसमे मानसिक अहिंसा-भाव नही है। इससे वृत्तिया कही मास से अधिक उत्तेजित होती है। यदि कुक्कुट का मास हानिकारक है, उत्तेजक है तो जिस पदार्थ से शरीर बनता है वह दुष्ट प्रभाव क्यो नही उत्पन्न करेगा? इसलिए योग-साधक के लिए अण्डो का प्रयोग सर्वथा वर्जित है। क्योकि यह विचारो मे गहरी सात्त्विकता उत्पन्न नही होने देता। मास तथा अण्डो के पक्षपाती सबसे बड़ा गुण जो इसमे बताते हैं वह है—इसमे प्रोटीन का अधिक मात्रा

में विद्यमान होना। किन्तु मनुष्य को जितनी मात्रा में प्रोटीन की आवश्यकता होती है वह दूध घृत शाक भाजी तथा फलों और दालों से प्राप्त हो सकती है ऐसा वैज्ञानिकों का अभिमत है। अधिक प्रोटीन सेवन करने से लाभ के स्थान पर अलाभ होता है क्योंकि अनावश्यक तत्वों को बाहर निकालने में व्यर्थ ही शरीर की शक्ति का प्रयोग करना पडता है। इसके अतिरिक्त मांस और अण्डों का प्रोटीन हानिकारक भी है।

इन्हीं कारणों से मांसाहार और अण्डों को मनुष्य जीवन के लिए अत्यन्त हानिकारक अनुभव करते हुए भारत के प्राचीन योगाचार्यों ने इनका निषेध किया है तथा दूध फल मूंग मव, दाल आदि को मानवीय स्वास्थ्य-सुरक्षा के लिए हितकर कहा है। आज जो लोग बिना सोचे समझे मांसाहार की ओर लपक रहे हैं उन्हें चाहिए कि वे शरीर के भाग जो परमतत्त्व है उसकी उपलब्धि में सहायक इन्द्रियों और मन की सात्त्विकता को इससे क्षीण न होने दें बचाएं।

2

शरीर शुद्धि

शरीर की उपादेयता

शरीर शुद्धि के उपाय

आसन

आसनों के प्रकार

सूक्ष्म क्रियाएं

स्थूल आसन

ध्यानासन

मुद्राएँ

बंध

व्यायाम

प्राणायाम

निस्संगता

••

शरीर की उपादेयता

जीवन को समझने का अर्थ यह नहीं है कि मन और आत्मा के सिवाय किसी की उपयोगिता न स्वीकारें। आत्मा से परिचय पाने के लिये जो कुछ आत्मा के इर्द-गिर्द है, जहां आत्मा निवास करती है उस क्षेत्र को जानना और उसके प्रति सावधान रहना भी जरूरी है। एक अंग्रेज ने लिखा है ‘‘मानवीय विकास का चरम उत्कर्ष मनुष्य शरीर की रचना में है।’ रचना का ज्ञान आवश्यक है। मशीन का संचालक यदि मशीन के कलपुर्जों से अपरिचित है तो उसे अचानक कहीं रुकना पड़ सकता है। जो लोग शरीर जड़ है भौतिक है यह कहकर उसकी वास्तविकता से आंख मूंद लेते हैं वे क्या लम्बे समय तक साधना शिविर में जी सकते हैं? शरीर के प्रति हमारा दृष्टिकोण रागात्मक न हो, यह जितना सत्य है उतना ही सत्य है-उपेक्षात्मक दृष्टिकोण भी न हो। वास्तविक उपेक्षा (अनासक्ति) पैदा नहीं की जाती वह स्वतः आती है। अन्तर के प्रति ज्यों ज्यों सावधानी बढ़ेगी त्यों त्यों पदार्थासक्ति स्वयं घटती जायेगी। अनासक्ति का अर्थ, शरीर के प्रति उदासीनता नहीं, सजगता है। पहुंचे हुए लोग शरीर के प्रति कम सजग नहीं होते।

महावीर जैसे मस्त थे वैसे स्वस्थ भी थे। उन्होंने काय क्लेश तप का विधान किया उसके पीछे आसन आदि साधनों के द्वारा शरीर को कष्टसहिष्णु बनाना तथा उसके प्रति निर्ममत्व भाव उत्पन्न करना ही उद्देश्य था न कि केवल शरीर को पीड़ा पहुंचाना था। यद्यपि साधना की दिशा स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। तथापि प्रारम्भ में यह जानना आवश्यक है कि शरीर को कष्टसहिष्णु, तनावहीन तथा स्वस्थ कैसे रखा जा सकता है तथा उसके लिए कायक्लेश के कौन कौन से प्रयोग विहित हैं। कायक्लेश के चार भेदों में से पहला भेद है आसन। शेष तीन भेद आतापना, निवस्त्र और अपरिकर्म हैं इन्हें क्रमशः साधा जाता है।

शरीर-शुद्धि के उपाय

संसारी आत्मा का शरीर के साथ गाढ़ सम्बन्ध है। शरीर निर्माण

रक्त मिलना बन्द हो जाता है तथा वह वहां अधिक पहुंचता है, जहां रक्त-चाप के कारण अनेक बीमारियों को उत्पन्न होने का मौका मिलता है। इसलिये भोजन करने के तुरन्त पहले तथा पीछे किसी प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक श्रम के नहीं करने का नियम है। यदि यह असावधानी होती है तो आमाशय मे पर्याप्त रक्त न पहुंचने के कारण पाचन क्रिया मे बडी कठिनाई होती है। अत भोजन के पूर्व क्षणिक विश्राम (कायोत्सर्ग कम से कम 25 श्वास का) तथा बाद मे वज्रासन मे नाभिदर्शन आदि प्रयोग काम मे लाये जा सकते हैं।

शारीरिक ताप को एक साथ उग्र करने मे तथा तीव्रता को मन्द करने से शरीर की बहिष्करण और आत्मीकरण की शक्ति क्षीण होती है। आसन करते ही स्नान तथा शीतल जल का प्रयोग इसीलिये हानिकारक माना गया है।

शरीर के जिस भाग मे उत्तेजना है वहा रक्त अधिक वेग से प्रवाहित होता है। क्रोध, भय, ईर्ष्या के समय मस्तिष्क के वाल-सूत्रो के उत्तेजित होने से रक्त मस्तिष्क मे अधिक जाने लगता है। इसी कारण क्रोधी मनुष्य का मुख लाल हो जाता है।

मनुष्य प्रवल इच्छा-शक्ति से मन को एकाग्र करके जहा रक्त को ले जाना चाहे, वहा रक्त अधिक मात्रा मे जाने लगता है।

रक्त-प्रवाह की समावस्था, शारीरिक स्वस्थता के लिए ही आवश्यक हो, ऐसी बात नही है, उसकी विषमता मे भयकर मानसिक बीमारिया भी पैदा होती हैं। रक्त सतुलन के विषय मे आधुनिक शरीर-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा योगाचार्यों का दृष्टिकोण समान है। शिथिलीकरण, ग्रन्थि-विसर्जन और कायोत्सर्ग (शवासन) इन तीनो मे शब्द रचना की दृष्टि से कुछ भिन्नता प्रतीत होती है किन्तु तीनो का अर्थ तथा लाभात्मक निष्पत्तिया समान है। योगासन हृदय और फुप्फुसो के रक्तशोधन मे सहयोग करते हैं। शुद्ध रक्त की पूर्ति के लिए शरीर मे पर्याप्त प्राणवायु की जरूरत होती है। यदि श्वास-प्रश्वास की गति गहरी और लम्बी नही है तो न रक्त की शुद्धि होगी न भीतर से विष का निष्कासन होगा और न आवश्यक अगो को रक्त ही प्राप्त होगा। तीव्र-श्रम तथा मानसिक कार्यो की अधिकता से हृदय पर गहरा दवाव पडता है, यदि योगासन भी विना शवासन के लगातार किए जाते है तो उनका भी यही परिणाम होता

है। आसनों के अन्त में शवासन करने की विधि इसीलिए विशेष महत्वपूर्ण है। मैं महीनों तक विधि से आसन करती रही किन्तु वांछित भी लाभ नहीं मिला। दुर्बलता बढ़ती गई। कुछ महीनों पश्चात मैंने प्रत्येक आसन के बाद लम्बा शवासन करना प्रारम्भ किया और इस क्रम से शरीर में स्फूर्ति, लचक और प्राण वायु की मात्रा बढ़ती चली गयी। शरीर और मन की शिथिलता भी समाप्त हो गयी। जैसे शवासन तनाव विसर्जन में सहायक है उसी प्रकार कई आसन स्फूर्ति और मानसिक प्रफुल्लता बढ़ाने वाले हैं जैसे—पूर्वोत्तान, सर्वाङ्ग और पश्चिमोत्तान आसन। इन आसनों से रक्तप्रवाह को हृदय तथा फुफ्फुस की ओर अधिक मात्रा में जाने का अवसर मिलता है।

आसनों के प्रकार

आसन प्रक्रिया शारीरिक और मानसिक संतुलन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। भगवान महावीर ने आसन, अनशन (तपस्या), कायोत्सर्ग, मौन और ध्यान इन पांचों के समायोग से सत्य को पाया। प्राचीन ध्यान सम्प्रदायों के अनुसार साधक स्नायविक शक्तियों के विकास, शुद्ध प्राण वायु तथा ध्यान इन तीनों के संकलित अभ्यास से आत्म-सत्य तथा पदार्थ सत्य दोनों का एक साथ साक्षात्कार करता है। उसके लिए दूरदर्शन, दूरश्रवण, पर चित्त ज्ञान और विचार संप्रेषण आदि क्रियाएं सहज होती हैं। इस क्रम में प्रथम साधन आसन सिद्धि है। आसन सिद्धि से मेरा मतलब है—देहाध्यास की क्षीणता। जब तक साधक भेद विज्ञान की कल्पना को यथार्थ नहीं कर लेता तब तक तीन घण्टे लगातार एक आसन पर बैठना भी पर्याप्त नहीं है। एक स्थिति में अधिक समय तक बैठने में शारीरिक कष्ट की अनुभूति न होना आसन सिद्धि का बाह्य रूप हो सकता है, किन्तु जब तक मन सम्य में एकाग्र न हो तब तक आसन सिद्ध नहीं होता।

योग ग्रंथों में वर्णित पद्मासन आदि विशेष प्रकार की अवस्था में स्थित होना मात्र आसन नहीं है अपितु उसके साथ शारीरिक एवं मानसिक स्थिरता तथा संतुलन का फलित होना भी अनिवार्य है। आसनों के मुख्य दो विभाग हैं—शरीरासन तथा ध्यानासन। दूसरे शब्दों में स्थूल आसन और सूक्ष्म आसन भी कहा जा सकता है। जो आसन शरीर के स्थूल अवयवों को विशेष प्रभावित करते हैं वे शरीर शास्त्र स्थूल-आसन कहलाते हैं

और जो शरीरगत समस्त सूक्ष्म नसों, शिराओं को मृदु तथा रक्त वेग को मानसिक स्थिरता के योग्य शान्त करते है वे ध्यानासन कहलाते है। आसनों से सर्वांगीण जीवन-विकास की भूमिका निर्मित होती है। यद्यपि प्रत्येक राजयोगी आसनो का प्रयोग करता है, किन्तु वह अपनी पहुँच मे उन्हें एक मात्र सहायक नही मानता। तत्वत, हठ-योग-विद्या का निरूपण राज-योग की पूर्व-भूमिका के लिये ही हुआ है—"केवल राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते"। प्राचीन योगाचार्यो ने आसनो के प्रकारो के विषय मे बहुत कुछ लिखा है। शिव सहिता तथा घेरण्ड सहिता मे 32 आसन, 15 मुद्राए तथा पाच बंधो का उल्लेख है, परन्तु मैंने इस पुस्तक मे एक छोटा सा क्रम प्रस्तुत किया है, जिसमे सात सूक्ष्म-क्रियाए, तेरह शरीरासन, सात मुद्राए चार ध्यानासन और तीन बन्ध हैं। जिन स्थूल तथा सूक्ष्म आसनो को इस पुस्तक मे स्थान दिया गया है उनकी विधि योग-ग्रथो से समर्थित है।

(1) सूक्ष्म क्रियाएँ

आसन-अभ्यास करने वालो को अपनी प्रकृति तथा शारीरिक स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। निम्नोक्त सूक्ष्म क्रियाए, उदर-विकृति के शिकार, बलहीन तथा जो स्थूल आसनों का अभ्यास नही करना चाहते है, उनके लिए प्रथम करणीय है। प्रारम्भ मे अधिक आसन करने से मल बिखर जाता है। फिर सचित विषाणु शारीरिक दुर्बलता को बढाते है तथा मानसिक वृत्तियो को चचल करते है, अत प्रारम्भ में सूक्ष्मक्रियाए अधिक लाभदायक है।

गुरु वंदन

ऊर्ध्व वज्रासन मे बैठ कर अपने आराध्य का ध्यान करते हुए श्वास भरे। मेरुदण्ड सीधा, आखें तथा मुख कोमलता से बन्द, दोनो हाथ परस्पर जुडे हुए मुकुलित अवस्था मे हृदय पर रहे। मन मे आराध्य का ध्यान करते रहें। श्वास सहज अवस्था मे चले। इसके बाद क्रियाएं प्रारम्भ करे।

1. अग्निसार

(अग्निसार—अग्निवर्धक क्रिया)

यह उदर शोधक क्रियाओ मे से एक है। वज्रासन मे बैठकर श्वास का रेचन किया जाए। दोनो हाथ घुटनो पर इस प्रकार सहजता से

साथ रहे कि अगुलिया मिली हुयी व शरीर समस्थिति म हो तथा मेरुदण्ड सीधा रहे। इस स्थिति म उदर का बाहर तथा अ दर वेग पूवक सकोच एव प्रसारण किया जाये।

उदरसकोचन की यह क्रिया मरुदण्ड की ओर जितनी अधिक होगी, उतनी ही लाभप्रद होगी। इस दौरान श्वास रुका रहे। इस प्रक्रिया में, अर्थात् रुके हुए श्वास की स्थिति में उदर सकोचन व प्रसारण की क्रिया पाच से प्रारम्भ कर क्रमश सौ तक बढाई जा सकती है। इसे तीन आवृत्तियों से प्रारम्भ करें और क्रमश बढाते जाए।

लाभ इस आसन के नियमित अभ्यास से नाभिमण्डल पाचन विभाग और आमाशयगत बीमारिया जड से मिटती है। इससे मस्तिष्क वात विकार का शमन होता है तथा अपानवायु शुद्ध होती है।

2 उदर-मुदन

प्रस्तुत सभी उदर क्रियाओ म वठन की विधि श्वास का रेचन और अधिकाश होन वाले लाभ पूर्वोक्त ही हैं।

दोनों हाथो की मुट्ठियों को बाध कर पट को दोनो पार्श्वों स गूथते हुए सारे पट को हल्के दबाव के साथ गूदा है। इस आसन म हाथो क हल्क दबाव से आमाशय नाभि और पट का वि प रूप स गूदा जाता है।

3 उदर-मदन

दोनो हाथो का दोनो पार्श्वों पर ऊपर नीच रख कर सार उदर की धीर धीरे मालिश की जाती है। इस प्रक्रिया को क्रम स क्रम तीन बार दोहराया जाए। मालिश नीचे स ऊपर किचित वेग क साथ तथा ऊपर स नीचे धीरे धीरे की जाए।

4 उदर-कपन

नाभि पर-दोनों हाथो का [illegible] हाथो की अगुलियों को बराबर मिलाते हुए उदर [illegible] का कपि। करें। [illegible] क पदन स मांसपेशियो की गति, रक्त-सचार एव [illegible] की क्रिया निर्यमित होन लगती है।

5 यकृत-प्लीहा मर्दन

वज्रासन मे बैठकर यकृत-प्लीहा के पास दोनो हाथो की अंगुलियो के चार-चार अग्रभागो से क्रमशः आगे को दबाते हुए मस्तक को जमीन पर लगाएं। इस स्थिति मे कुछ सेकिण्ड रुककर पुनः श्वास को भरते हुए पूर्व स्थिति मे आएं। उसके बाद इससे नीचे के भाग मे इसी प्रकार अंगुलियो का दबाव दिया जाय तथा तीसरी बार भी यही क्रिया अंगुलियो को उससे नीचे रख कर की जाए।

6. नाभि-दर्शन

वज्रासन मे बैठकर ठुड्डी को जालंधर बंध (कंठ-कूप) मे रख कर नाभि की ओर एकाग्र दृष्टि से देखे। भोजन के बाद इस क्रिया को करने से पाचन मे सहायता मिलती है। यह क्रिया मानसिक स्थिरता के अभ्यास मे भी अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई है। आंखो के इस प्रकार नाभि पर एकाग्र होकर देखने से नाभि के आस पास के सारे स्नायुओ को प्राण तत्त्व मिलता है। इस प्रकार शारीरिक तथा मानसिक विकार धीरे-धीरे जलने लगते है। इसका अभ्यास तीन मिनिट से पैतीस मिनिट तक क्रमश. बढाया जा सकता है।

7 कायोत्सर्ग (शवासन)

कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है—शरीर का त्याग। शरीर के त्याग का अर्थ है, शरीर, प्राण और मन की शिथिलता। चपल-शरीर तथा उभरी हुई सांस मन मे तनाव पैदा करती है। अतः आसन अभ्यास के पूर्व तथा पश्चात् यह आवश्यक है कि हम शरीर, प्राण और मन की गति को सम तथा शान्त करे। इन तीनो की समता का नाम ही कायोत्सर्ग है। शरीर को ढीला करने के लिए किसी बाह्य चेष्टा की आवश्यकता नही, केवल मन की प्रेरणा से शरीर के अंगो को एक-एक करके क्रम-पूर्वक शिथिल करते जाएं। पहले पैरो के अंगूठों की ओर मन को लगाएं और संकल्प करें कि वे शिथिल हो जाएं तथा शिथिल हो रहे है, ऐसा अनुभव करते हुए फिर घुटने और टांगो, कमर और पेट, छाती और पीठ तत्पश्चात् ग्रीवा तक के अवयवो को क्रमशः शिथिल करते जाएं, अंत मे मस्तिष्क, जहां कि संवेदनात्मक नाडी-केन्द्र है। जिसे शिथिल करने से पूर्ण शान्ति

तथा स्थिरता होने लगती है। इस प्रकार शरीर तथा मस्तिष्क को पूर्ण शिथिल करने के बाद मन को श्वास प्रश्वास की सहज क्रिया पर लगाएँ। श्वास का उपयोग रक्त शुद्धि के लिए है और प्रश्वास का विषाणुओं को शरीर से बाहर फेंकने के लिए है किन्तु छोटा श्वास इस दिशा में सहायक नहीं होता अतः गहरे श्वास का अभ्यास मानसिक एकाग्रता के लिए किया जाना चाहिये। मन को स्थिर और शान्त करने के लिए शरीर और श्वास को शिथिल करना अत्यन्त आवश्यक है।

कायोत्सर्ग करने की विधि

कायोत्सर्ग सोयी बैठी तथा खड़ी तीनों मुद्राओं में किया जा सकता है। खड़ी मुद्रा में कायोत्सर्ग करते समय दोनों हाथ घुटनों की ओर झुके रहते हैं। पैर सम रेखा में तथा दोनों पैरों में चार आंगुल का अन्तर होना है।

बैठी मुद्रा में कायोत्सर्ग करने के लिए पद्मासन, सुखासन तथा सिद्धासन में बैठें। हाथ घुटनों पर या किसी मुद्रा की स्थिति में रखें।

सोयी मुद्रा में—पीठ पर सीधे लेट कर, भुजाओं को टांगों की ओर सीधे फैला कर, हाथों के तल्वों को भूमि पर टिका कर, हाथों की अंगुलियों को ढीला रखते हुए परस्पर मिला कर रखें। एड़िया को परस्पर मिलाकर पैरों को दायें बाएं लिटा दें। मुख और नेत्रों का कोमलता पूर्वक बंद रखें। किसी भी स्नायु में तनाव न रहे। तनाव विसर्जन के पूर्व एक बार शरीर में नया तनाव प्रयत्न पूर्वक पैदा किया जाता है अर्थात् सारे शरीर को यथा शक्ति तानकर फेफड़ों को लम्बे तथा गहरे श्वास से भर लिया जाता है। फिर श्वास को धीरे धीरे छोड़ते हुए तनाव मिटाकर मूल स्थिति में आजाए। यह क्रम आवश्यकतानुसार दोहराया जा सकता है। इससे शरीर गत दूषित पदार्थ बाहर निकल जाते हैं। यह शिथिलीकरण का स्थूल रूप है।

कायोत्सर्ग की उपयोगिता

वर्तमान युग तनावों का युग है। इसमें जिस गति से मानव प्रगति कर रहा है उस गति से मानसिक तनाव भी बढ़ रहा है। दैनिक जीवन का

सही आकार तनाव-बहुलता है। जिस देश मे तनावो का आधिक्य है, वह देश मानसिक उन्नति कठिनाई से करता है। मनोविश्लेषको के अनुसार आज 100 मे से 75 प्रतिशत रोग मानसिक है। जब इन रोगो का दवाईयो से इलाज किया जाता है, तब ये दूसरा रूप धारण कर लेते है। कुछ दिनो के बाद रोग के मूल कारण को पकडना भी कठिन हो जाता है। और तो क्या, रोगी को शिथिलीकरण आदि क्रियाओ पर विश्वास तक नही होता। यह बढती हुई मनोबल की क्षीणता फिर नए तनावो को पैदा करती है। अत. हमे स्वास्थ्य-सुरक्षा तथा मानसोपचार के लिए स्नायविक तनाव-विसर्जन की प्रक्रिया का अभ्यास तत्काल प्रारम्भ कर देना चाहिए। आज विदेशो की सफल चिकित्सापद्धति मे कायोत्सर्ग को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वहां स्वस्थ व्यक्ति भी अनिवार्यतया इसे करते है। एक बार जापान के सहायक राजदूत आचार्य श्री तुलसी के पास आए। आचार्य श्री ने उनसे पूछा—क्या आप कभी कायोत्सर्ग करते है? उन्होने कहा, हमारे देश मे तो शिथिलीकरण बहुत वर्षों से प्रयोग मे लाया जाता रहा है। अमेरिका तथा जर्मनी के विशेषज्ञो ने भी इसका समर्थन किया और बताया कि कायोत्सर्ग के बिना हमारे देश मे जीना भी कठिन है। जापान मे तो आज भी विश्वविद्यालयो से निकलने वाले बहुत सारे विद्यार्थियो को छ महिने के लिए एकान्त मे रहकर इसका मूर्त अभ्यास करना होता है। क्योकि, ऐसा करने से उनके बौद्धिक तनाव तथा मानसिक तनाव विसर्जित होते है। यही कारण है कि वहा के लोग काम करने मे अधिक विश्वास करते है और बोलने मे कम। शिथिलीकरण से कर्तव्य-शक्ति, अनुशासनबल तथा शरीर-सामर्थ्य बढ़ता है। मानसिक उलझनो से मुक्ति पाने के लिए मनको सरल, स्नायुओ को सबल बनाना आवश्यक है। कायोत्सर्ग इन दोनो अपेक्षाओ का पूरक है। कायोत्सर्ग करते समय मन, श्वास की गति पर केन्द्रित अथवा शून्य हो जाना चाहिये, क्योकि एक विचार, अनेक सस्कारो तथा भावो (कल्पनाओ) को उभारता है, इसलिए प्रारम्भ मे ओम्, सोहम् और अर्हम् जैसे किसी शब्द को समतल स्वर मे जपा जा सकता है ताकि बीच मे कोई विकल्प न आए। क्रमिक विकार के लिए श्वासो की गिनती भी की जा सकती है। प्राचीन क्रम के अनुसार चतुर्विंशतिस्तव, प्रतिक्रमण तथा क्रोध आदि ग्रन्थियो के विमोक्ष के लिए श्वासो की सख्या निर्धारित थी। सौ,दो-सौ, तीन सौ, पाच सौ, तथा हजार तक पहुँचने के बाद ममत्व विसर्जित होने लगता है। "अप्पाण वोसिरामि" का सही अर्थ, शरीर तथा शरीर की

प्रवृत्तियो के प्रति रह ममत्व भाव का परित्याग करना ही है । कायोत्सग की पूण सफलता देह विस्मरण म है । जब तक 'मै हूँ यह अह रहता है तब तक आत्मबोध नही हो सकता ।

कायोत्सग कितने समय तक किया जाए, यह एक प्रश्न है । इसका पहला उत्तर तो यह है प्रारम्भ म मन को जकडना नही चाहिए । जब तक मन लीन न हो तब तक मन को विभिन्न सुझावो स शिथिल करते जाए । लीन होने क बाद समय का स्वत ध्यान नही रहेगा । मानसिक विश्राम क लिए शिथिलीकरण जितना लम्बा किया जाए उतना ही श्रेयस्कर है । यह कम स कम 15 मिनिट तक अवश्य किया जाना चाहिए ।

कायोत्सग का फल

1 मुख्य फल — आत्म-सान्निध्य

2 गौण फल — क मानसिक-सन्तुलन
ख बौद्धिक विकास
ग शारीरिक-स्वच्छता

आचार्य भद्रबाहु न कायोत्सग क पाच लाभ बताए है—

1 देहजाड्य क्षय
2 बौद्धिक जडता की शुद्धि
3 सुख-दुख तितिक्षा
4 शुद्ध भावना का अभ्यास
5 ध्यान की योग्यता

स्थूल आसन

1 कूर्मासन

उत्थित वज्रासन म बठकर दोनों कोहनियो को नाभि क इधर उधर रखत हुए मुट्ठिया बन्द कर ऊपर की ओर मुह करत हुए जांघों पर रख दें । अब धीरे धीरे कमर को आग की ओर झुकाते हुए सिर को घुटनों क ऊपर इस प्रकार लगाए कि मुट्ठिया पेट क नीचे दब जाए । हाथ पैर और गदन तीनों को सिकोड कर सारे शरीर को कछुए की तरह बाध दें ।

लाभ—यह आसन हर्निया व मधुमेह आदि रोगो का निवारण करता है, पाचन क्रिया मे वृद्धि कर, उदर-वायु और मोटापा कम करता है। यह
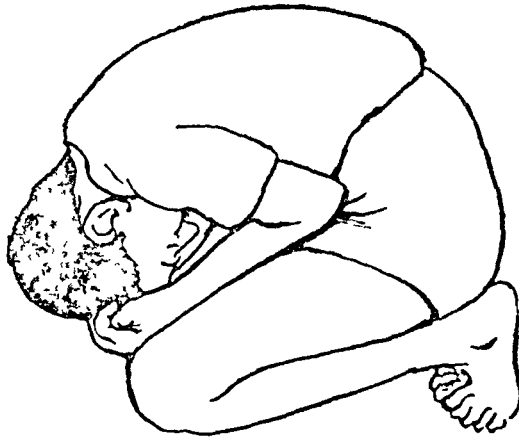
कूर्मासन

इन्द्रिय-सयम की साधना मे तथा सेक्स-सेन्टर को नियन्त्रित करके ब्रह्मचर्य-जनित तेजस्विता के वर्द्धन मे अत्यन्त उपयोगी है।

2. गौरक्षासन

विना पैरो को आगे पीछे गति दिये घुटनो को खडा करके पैरो के तलवो को परस्पर मिला दे। अब दोनो हाथो की अंगुलियो को पूर्ण रीति से आर पार करके, जुडे हुए हाथो को दोनो मिले हुए पैरो की अंगुलियो पर टिकादे। दोनो हाथो की तलियो से पैरो को भीतर की ओर दवाते हुए, हाथो के अंगूठे मिलाकर, पैरो के अंगूठों के सिरों पर समानांतर इस प्रकार रखे कि दायां अंगूठा नीचे की ओर रहे।

वैठी मुद्रा मे, वाहुओ को तानकर एडियो को अन्दर की ओर सिकोड कर गुदा से मिला दें। छाती को ऊपर . उभारे । पृष्ठवश तथा ग्रीवा को ऊपर की ओर तानते हुए सिर को सीधा रखे।

अव जाहुनुओ को तानकर भूमि से सटा दे। इस अवस्था मे भुजाओ को शरीर से मिला कर रखते हुए कोहनियां जितनी पीछे की ओर दवाई जायेंगी उतना ही गहरा प्रभाव पडेगा।

अब श्वास छोड़ते हुए धीरे धीरे गर्दन को नीचे झुकाएं, फिर जुड़े हुए तलुओं का या जमीन का मस्तक से स्पर्श करें। इस तनी हुई अवस्था में शरीर को कुछ क्षण तक रखकर धीरे धीरे यथाक्रम ढीला करते हुए हाथों को छोड़ दें और पूर्ववत् शवासन करें।

गोरक्षासन (क)

गोरक्षासन (ख)

लाभ—इस आसन से बाहुओं और टांगों की पेशियों पर विशेष असर पड़ता है। इस प्रकार य आसन शुक्र तथा डिम्ब ग्रंथियों पर विशेष प्रभाव डालते हुए स्त्री पुरुष के ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हैं तथा नपुंसकता को दूर करने में भी विशेष प्रभाव डालते हैं। इससे स्वप्नदोष तथा मासिकस्राव सम्बन्धी रोगों का नाश होता है।

3 जानुशीर्षासन

दोनों पैरों को आगे जमीन पर सीधा फैलाएं। फिर बाएं पैर को मोड़ कर इसका तलवा दाहिने पैर की उरु (जांघ) के समानान्तर रखें। अब धीरे धीरे एड़ी को गुदा की ओर ले जाएं। इस क्रिया में दाहिना पैर

जमीन पर सीधा फैला हुआ तथा उसका पंजा आगे तना हुआ रहेगा और समकोण की स्थिति बन जाएगी । अब श्वास छोड़ते हुए धीरे-धीरे धड़ को आगे की ओर झुकाए। मस्तक को दाहिने पैर के घुटने पर लगाए तथा दोनो हाथो से पैर के अंगूठो को मजबूती से पकड़े । कुछ क्षणों तक यही स्थिति रखे। इस अवस्था मे श्वास रुका रहेगा। अन्त मे वापिस श्वास भरते हुए बदन ऊपर उठाकर उसी मुद्रा मे सवासन करे।

इसी विधि से दाहिने पैर को मोड़ कर सम्पूर्ण क्रिया दोहराएं।
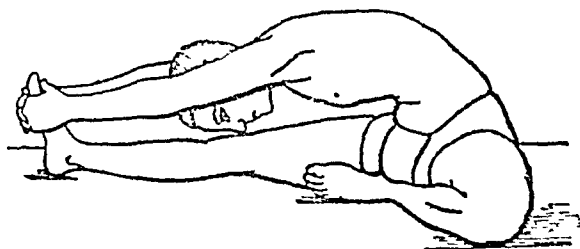
जानुशीर्षासन

लाभ—'पश्चिमोत्तान आसन' के सब लाभ इससे प्राप्त होते हैं। रीढ की हड्डी की पेशियाँ एव स्नायुओ पर खिचाव पड़ने से उसकी लचक बढ़ती है। कमर के दर्द, विशेषतः साइटिका मे लाभ होता है। यह वह आसन है जो अपने लम्बे अभ्यास के बाद कुण्डलिनी जागरण मे सहयोग करता है और मेरुदण्ड को सबल बनाता है।

जानुशीर्षासन की दूसरी विधि—

क्रमश. दाए और बाए पैर को पूर्ववत् फैला कर बाए हाथ से दाएं पैर के अंगूठे को और दाए हाथ से बाए पैर के अंगूठे को पकड़े । सिर को क्रमश. घुटनो पर लगाए तथा एक हाथ पीछे ले जाकर पीठ पर रख दे।

लाभ—इस आसन से मानसिक स्थिरता बढ़ती है। गैस-ट्रबल, दर्द, जुकाम और कब्ज निवारण मे यह विशेष लाभकारक है।

4 पश्चिमोत्तान आसन

बैठकर पैरों को सामने सीधा फैलाकर परस्पर मिला दे। फिर दाये पैर का अंगूठा दाये हाथ से और बाये पैर का अंगूठा बाये हाथ से मजबूती से पकड़े । धीरे-धीरे श्वास का रेचन करके मूलबन्ध और उड्डियान

बंध लगाकर सिर को घुटनों पर थाम दें। यथाशक्ति श्वास रोके रहें। फिर श्वास भरते हुए ऊपर आ जाएं। इस आसन के कई प्रकार हैं, क्रमशः उनका अभ्यास करें—

पश्चिमोत्तान आसन

(क) पैरों की वही स्थिति रहे। हाथों से जाहनुओं को पकड़ें। शेष विधि पूर्ववत्।

(ख) हाथों को इतना सामने बढ़ायें कि एड़ी को मजबूती से पकड़ सकें।

(क) पादबद्ध पश्चिमोत्तान आसन

(ख) पाणिबद्ध पश्चिमोत्तान आसन
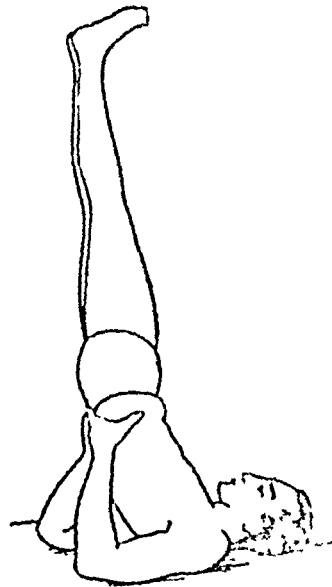
सर्वाङ्गासन

लाभ—इस आसन का विशेष प्रभाव चुल्लिका तथा उप-चुल्लिका-ग्रन्थियो पर पड़ने के कारण यौवन को स्थिर रखने तथा नष्ट हुए यौवन को पुनः प्राप्त करने मे इसका बहुत महत्व है। पृष्ठवंश के मोहरो पर इसके द्वारा नीचे से ग्रीवा की ओर दवाव पडता है, जिससे नाड़ी केन्द्रो की शक्ति में वृद्धि होती है। शुक्र-ग्रन्थिया, गर्भाशय तथा डिम्ब-गन्थियां भी इससे प्रभावित होती है। यह स्त्री-पुरुषो की नपुंसकता को दूर करने मे सहायता करता है और पाचनविभाग को सक्रिय करता है। इससे ब्लड-सर्क्युलेशन व्यवस्थित होकर दिमाग और दिल को स्वस्थ बनाता है।

12 मत्स्यासन

भूमि पर बैठकर दाए पैर को वायी जांघ के ऊपर और वाए पैर को दायी जांघ के ऊपर इस प्रकार रखे कि पैरो के तलवे उदर की ओर, और एड़िया जांघो के मल मे स्थित हो जाए (पद्मासन)। अब पीठ पर लेट कर धीरे-धीरे बाहुओ को नीचे झुकाकर कोहनियो को जमीन पर लगा दें।

पूर्व मुद्रा में धीरे धीरे जानुओं को नीचे जमीन पर लगाएं। फिर कमर को ऊपर उठाते हुए सिर को पीछे भीतर की ओर खींचकर वक्षस्थल को जितना हो सके ऊपर उठा दें। इस पूर्णतान की अवस्था में कुछ क्षण रुककर धीरे धीरे पद्मासन खोलकर पूर्ण शवासन करें।

यह आसन सर्वाङ्गासन के बाद किया जाता है।

मत्स्यासन
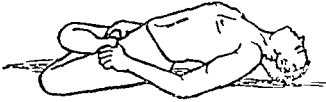
लाभ—इस आसन से पृष्ठांग के मोहरों तथा पसलियों को एक ही समय ऊपर तथा नीचे की ओर तनने का अवसर प्राप्त होता है। उदर प्रदेश पर भी दोनों प्रकार से दबाव पड़ता है। सुषुम्ना नाड़ी इससे विशेष प्रभावित होती है जिससे नाड़ी शक्ति की वृद्धि व कब्जी इत्यादि रोगों की निवृत्ति तथा शरीर में लचक उत्पन्न होती है। अस्थमा और ब्रांकाइटिस के रोगों की निवृत्ति में भी यह आसन सहायक है।

13 कायोत्सर्ग आसन (शवासन)

कायोत्सर्ग आसन खड़े हुए, बैठकर अथवा लेटकर तीनों अवस्थाओं में किया जा सकता है, किन्तु सामान्यतः आसनों के बाद लेटकर ही किया जाता है। पीठ के बल लेटकर कायोत्सर्ग करते समय हथेलियां भूमि पर टिकी हुई, अंगुलियां पूर्णतः निश्चिन्त एवं पैर दाएं-बाएं सहजरूप से गिरे हुए रहेंगे। उदर सीधा, मुख एवं मन सौमनस्यता में बने रहेंगे। शरीर पूर्णतया तनावरहित होकर निश्चेष्ट अवस्था में आ जाएगा।

(1) कायोत्सर्ग आसन (लेटे हुए)

मानसिक एव शारीरिक तनाव से मुक्ति पाने के लिए कायोत्सर्ग (शवासन) अत्यन्त आवश्यक है।

(11) कायोत्सर्ग आसन (बैठे हुये)

'सूक्ष्म क्रियाओं' के अन्तर्गत पाठक कायोत्सर्ग का पूर्ण विवरण इससे पूर्व पढ चुके है।

आसन अभ्यास के सामान्य नियम

(1) प्रत्येक आसन मे यथाशक्ति शरीर को ताना जाता है और आसन के पूर्ण होते ही तत्काल शरीर को पूरा शिथिल कर दिया जाता है।

(2) आसन करते समय श्वास-प्रश्वास की गति लम्बी, गहरी तथा मृदु होनी चाहिए। लम्बे अभ्यास के बाद अधिकांशतः स्थूल आसनो मे आसन शुरु करते समय लम्बा श्वास भरा जाता है। तान की अवस्था मे श्वास रुका रहता है और पूर्ण होते ही तत्काल उस श्वास का रेचन कर दिया जाता है। इस प्रकार विपाक्त पदार्थों के वाहर निकालने की तथा शुद्ध प्राण-तत्व के ग्रहण करने की ताकत बढती है।

(3) श्वास और मन दोनों एकरस हो, ऐसा लम्बे समय तक अभ्यास करना चाहिए।

(4) आसन करते समय मुख, आख और दांत बन्द रखें ताकि मन बाहर न दौड़े तथा दृष्टि के द्वारा क्षीण होने वाली शक्ति को बचाया जा सके।

(5) इतने समय में इतने आसन अवश्य करने हैं, इस प्रकार मन को न बांधें, प्रत्युत् जो करना है वह विधि और लगनपूर्वक करते रहें।

(6) उतावल बौद्धिक अधीरता है। इसमें सब काम बिगड़ते हैं। आसनों से शरीर में सहिष्णु शक्ति बढ़ती है। अंगों में लचक आती है। किन्तु वह स्थिरता से बढ़ेगी उतावल से नहीं अतः किसी भी आसन में झटका और कम्पन नहीं होना चाहिए।

(7) प्रत्येक आसन में तान की अवस्था प्रति सप्ताह एक एक सकण्ड बढ़ाते हुए पांच सकण्ड से तीन मिनट तक पहुंचाई जा सकती है किन्तु, एक साथ समय को नहीं बढ़ाए। सर्वांगासन को जितना चाहें उतना लम्बा कर सकते हैं।

(8) आसन करने के बाद शरीर में स्फूर्ति मन में प्रसन्नता तथा हल्कापन अनुभव होना चाहिए अन्यथा वह थकान मात्र है।

(9) आसन अभ्यास काल में कोई व्यसन नहीं होना चाहिए।

(10) आसन प्रातःकाल शौच दन्त धावन, स्नान आदि से निवृत्त होकर खाली पेट किए जाते हैं।

(11) आसनों का अभ्यास करते समय मौन धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि बीच में बोलना पड़े तो सवांगासन के बाद ही बोला जा सकता है।

(12) आसन समाप्त करने के बाद कुछ समय तक (आधा घण्टा) कड़ा परिश्रम नहीं करना चाहिए।

ध्यानासन

कुछ आसन, ध्यान-स्थिति मे सहायक होते है। यद्यपि चैतन्य-जागृति के लिए आसन नितान्त अपेक्षित नही है, तथापि स्थिति-जय, बुभुक्षा-जय और आवश्यकताओ की अल्पता के लिए आसन आवश्यक है। आसनो के पर्याप्त अभ्यास से शारीरिक व्याकुलताओ का स्वत. समाधान हो जाता है। ध्यान के लिए कौन-कौन से आसन उपयुक्त है? इस विषय मे अनेक धारणाये है—वैसे सर्व सम्मत धारणा यह है—

1 पद्मासन

2. सिद्धासन

3. सुखासन (कमलासन)

4 कायोत्सर्गासन

ध्यानासनो मे मेरुदण्ड तथा टागो की स्थिति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कई योगाचार्य टागो को दोहरी रखकर ध्यान करने की पद्धति को वैज्ञानिक मानते है। क्योकि बुद्धि की सूक्ष्मता के लिए रक्ता-भिसरण-क्रिया का उर्ध्वगतिक होना आवश्यक है। पूर्वोक्त ध्यानासनो से शरीर के निम्नवर्ती भागो मे रक्त का प्रवाह हल्का होता है। इस प्रकार मस्तिष्क के सूक्ष्म-तन्तुओ के लिए पर्याप्त रक्त बच सकता है। साधना के प्रारम्भ मे बौद्धिक सूक्ष्मता तथा स्वस्थता अधिक आवश्यक होती है। इस लिए पर्यंक-आसन (पद्मासन) आदि चारो आसनो को मानसिक एकाग्रता मे अत्यन्त सहायक माना गया है।

पृष्ठवश की समावस्था से सारा शिरा-प्रबन्ध व्यवस्थित रहता है। मेरुदण्ड के अधिक झुके रहने से तथा उसके किसी भार विशेष के कारण दबे रहने से मानवीय चेतना विकेन्द्रित हो जाती है। इससे व्यक्ति के

विचार और भाव केन्द्रित नहीं हो सकते। वर्तमान शरीर शास्त्र के अनुसार हमारे शरीर में पर्याप्त गुरुत्वाकर्षण की आवश्यकता है। इस प्रकार के आसनों में बैठने से यह मांग पूर्ण होती है।

पद्मासन

दाएं पैर को बायीं जांघ पर रखें और बायीं टांग को दायीं जांघ पर रखें। एड़ियां परस्पर मिली हुई हों। दोनों घुटने जमीन से स्पर्श करें। इसका प्राचीन नाम पद्मासन है। इसके बद्ध-पद्मासन, अर्ध पद्मासन आदि अनेक उपभेद हैं। पद्मासन में ज्ञानवाही तथा वीर्यवाही नाड़ियों का संयम होता है। आज कई प्रकार के मानसिक रोगों की चिकित्सा ध्यानासन के द्वारा की जाती है। पद्मासन शारीरिक वेग के समय को छोड़कर कभी भी किया जा सकता है। कोमल शय्या पर आसनों का अभ्यास नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे स्नायुओं में तनाव कम आता है तथा पूरा मल (विजातीय पदार्थ) बाहर नहीं निकल सकता।

पद्मासन

सिद्धासन

सीधे बैठकर दाए पैर की एड़ी को गुदा के नीचे रखें और बाएं पैर को दायी जांघ पर इस प्रकार रखें कि लिंग-स्थान पर हल्का सा दबाव आए। दोनो एड़िया परस्पर ऊपर नीचे रहेंगी। धीरे-धीरे दोनों घुटनो को जमीन से सटाने का प्रयत्न करें।

यह आसन पुरुषों के स्वप्नदोष, अनिद्रा और मलमूत्रादि की अनियमिता को दूर करता है। साधना के क्षेत्र मे यह विशेष महत्त्व रखता है। यह काम केन्द्र (सेक्स सेन्टर) को रूपान्तरित (शोधन) करके कुण्डलिनी जागरण की सम्भावना को प्रबल करता है।

योग-ग्रन्थो मे सिद्धासन के विषय मे कहा गया है—

"मोक्ष चैव विधीयते फलकर सिद्धासन प्रोच्यते"—घेरण्ड संहिता

(सिद्धासन मे प्रतिदिन ध्यान करने से साधक मोक्ष तथा सब सुखो की उपलब्धि करता है।)

सिद्धासन

सुखासन

सुखासन किसी एक आसन विशेष का नाम नहीं होकर खपूर्वक बैठने तथा खड़े होने की स्थिति का ही नाम है। किन्तु साधारणतया पालथी मारकर बैठना सुखासन कहलाता है। सुखासन, या साधना के लिए सहज तथा सरल आसन है।

सुखासन

कायोत्सर्ग आसन

कायोत्सर्ग आसन के विषय में पूर्ण विवरण कायोत्सर्ग प्रकरण में [illegible]।

मुद्राएं

मुद्रा का अर्थ है—आकार, अर्थात्, किसी विशेष स्थिति मे बैठ कर, सोकर अथवा खडे होकर श्वास और मन को एकरस करना। मुद्राओ के साधनकाल मे श्वास और मन की समता पर विशेष ध्यान रखा जाता है। आसन, मुद्रा और बंध तीनो भिन्न-भिन्न प्रयोग होते हुए भी एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। मुद्राए चित्त-स्थैर्य मे विशेष सहायक है, क्योकि इनके अभ्यास से मेरुदण्ड सबल होता है और प्राण-उत्थान के साथ कुडलिनी-जागरण की सभावना प्रबल हो जाती है।

मुद्राओ के अनेक प्रकार हैं। उनका साधन आत्मोन्नति के महान् उद्देश्य से किया जाए तो अतर-जागृति के साथ आवेग-क्षीणता, सहज-प्रसन्नता, दूरदर्शिता और प्रतिकूल स्थितियो मे समजन (एडजस्टमेन्ट) व सन्तुलन बनाये रखने की योग्यता प्राप्त होती है। कुछ मुद्राओ का विवरण इस प्रकार है :—

1. अश्विनी मुद्रा

इस मुद्रा का सम्बन्ध शरीर के मूल से है। जो लोग मात्र अपान-शुद्धि के लिये इसका प्रयोग करते है उनके लिये शौचासन (उकडुआसन) मे बैठे बैठे वही गुदा का सकोच और प्रसारण करने की जरूरत है, किन्तु जो प्राण-शक्ति के उत्थान, काम-विजय और कुडलिनी-जागरण के लिये इसे करते है उन्हे नियत आसन कर लेने के बाद सिद्धासन, पद्मासन या अश्वासन मे बैठ कर इसका अभ्यास करना चाहिये।

2. शाम्भवी मुद्रा

मूल बंध और उड्डियान बन्ध सहित किसी एक आसन मे बैठकर भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) पर ध्यान केन्द्रित करना शाम्भवी मुद्रा है। इसे खुली आखो से भी कर सकते है और बन्द आखो से भी, किन्तु यथासम्भव खुली आखो से किया जाना उत्तम है। इससे मन तत्काल एकाग्र होता है।

3 तडागी मुद्रा

इस मुद्रा मे सीधे सोकर पेट को वायु से भरा जाता है। पूरक चालू स्वर से होता है। जब उदर पूरा भर जाता है तब उसे कुम्भक की स्थिति मे इस प्रकार हिलाया जाता है जैसे जल को तालाब मे। हिलाने के लिये कई उपाय सुझाये जा सकते है। यथा, इच्छाबल से पेट को थोडा सा भीतर की ओर खीचते हुए हिलाना हाथो के सहारे हिलाना, दोनो हाथो को जमीन पर दृढ जमाकर शरीर को पूरा तानते हुए दाए-बायें उलटने की चेष्टा करना। कुम्भक खोलते समय वायु का धीरे धीरे रेचन करने का विधान है। इसमे मुख्यतय पेट के समस्त रोग क्षीण होते हैं। इसे खाली पेट किया जाना चाहिए ताकि आराम से वायु को भीतर घुमाया जा सके।

4 विपरीतकरणी मुद्रा

यह शीर्षासन का पूर्व रूप है। इसे दीवार के सहारे भी किया जा सकता है। इसमे बधो का विशेष महत्व है। कई आचार्य इस मुद्रा को पद्मासन मे करने का भी विधान करते हैं। इसी आधार पर इसका दूसरा नाम मिलता है—'ऊर्ध्व पद्मासन'।

इसके विशेष लाभ हैं—1 वीर्यरक्षा 2 नेत्र तथा दांत की सुदृढ़ता 3 जठराग्नि की प्रबलता 4 कोष्ठबद्धता व जुकाम से मुक्ति 5 रक्ताल्पता की दूरी तथा 6 सिर दर्द से छुटकारा।

5 महा मुद्रा

भूमि पर बैठकर बायीं टाग को फैला दें और दायीं टाग के घुटने को मोड़कर दायी एडी को गुदा व मूत्र के मध्य जमा कर दाए पैर के तलुए को बाई जांघ से दृढ़ लगा दें। दोनो भुजाओ को फैलाते हुए दोनो हाथो की अंगुलियो को एक दूसरे के बीच मे डालकर दोनो हाथो को बाए पैर के तलवे पर जमा दें।

तत्पश्चात बाए पैर को धीरे धीरे पूर्ण रूप से तान दें और सिर को धीरे धीरे भीतर की ओर नाक को यथासम्भव घुटनो की ओर ले जाए। सिर को भीतर की ओर झुकाएं किन्तु टागें दाएं तथा बाएं पूर्णरूप

से तन जाए। इस अवस्था में कुछ ठहर कर धीरे-धीरे शरीर को ढीला करते हुए पूर्व दशा मे आ जाए। इसी प्रकार दायी टाग को फैलाकर पुनः करे, अन्त मे शवासन करे।
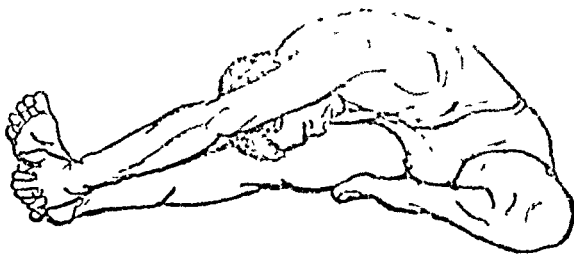
महामुद्रा

लाभ—इससे पृष्ठवंश के मोहरो को पूर्ण मात्रा मे ऊपर की ओर तनने और नाभि की ओर झुकने का मौका मिलता है। इसका कल्याणकारी प्रभाव फुप्फुस, प्लीहा, आमाशय, आखो तथा बडे नल पर पडता है। इसको करते समय यदि एड़ी का दवाव गुदा पर डाला जाए तो ववासीर के रोग की निवृत्ति होती है। ब्रह्मचर्य सधता है।

क्षयकास गुदावर्त प्लीहा जीर्णज्वर तथा ।
नाशयेत् सर्वरोगाश्च महामुद्रा निषेवणात् ॥

6. खेचरी मुद्रा

जीभ को ऊपर की ओर उलटकर तालु के बीच (गड्ढे) मे लगाये रखने का नाम खेचरी मुद्रा है। जिह्वा को वढाने के लिए तीन साधन किये जाते है–1. छेदन 2. चालन और 3. दोहन।

छेदन–यह साधन श्रमसाध्य हे अतः साधारण साधक वाकी दो साधनो से ही काम चलाता है।

चालन और दोहन—अ गूठे और तर्जनी अ गुली से अथवा वारीक वस्त्र से जीभ को पकड़ कर चारो तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खीचने को चालन कहते है। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनो हाथो की अ गुलियो से जीभ का गाय के स्तन की भाति धीरे-धीरे आकर्षण करने की क्रिया का नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से अन्तिम अवस्था मे जीभ इतनी लवी हो सकती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्य तक पहुच जाय। इस मुद्रा का

विशेष महत्त्व बतलाया गया है। इससे ध्यान की अवस्था को परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है।

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥

7 योग मुद्रा

(क) पद्मासन में बैठ कर बाएं हाथ की कलाई को दाएं हाथ से पकड़ कर पृष्ठवंश के अंतिम भाग-पुच्छास्थि पर हल्का सा दबाव देते हुए जमाएं। अंगुलियां भीतर की ओर झुकी रहें। सर्व प्रथम धीरे धीरे पूर्व श्वास निकाल दें। पूर्णतया श्वास निकालने के बाद कोमलता से धीरे धीरे गर्दन तथा पृष्ठवंश को झुकाते हुए आगे की जमीन का नासाग्र और मस्तक से स्पर्श करें। कुछ सेकण्ड तक रुक कर पुनः मूल स्थिति में आ जाएं। अन्त में उसी स्थिति में शवासन करें।

योगमुद्रा

नोट—स्थूल उदर वालों को रेचन के पश्चात् ही भूमि पर मस्तक झुकाना चाहिए। कुम्भक पूरक करके भी झुका सकते हैं।

(ख) पद्मासन में बैठकर, बायीं हथेली पर दाईं हथेली ऊपर नीचे रखकर नाभि पर जमाएं। अंगुलियां परस्पर मिली हुई हों। अंगूठा एक दूसरे से सटा हो अथवा मुट्ठियां बंद हों। शेष सब अंगों को स्थिर बनाएं। अब धीरे धीरे पूर्व श्वास का रेचन करके अथवा श्वास की सामान्य गति में आगे की ओर झुकें। मस्तक से जमीन का स्पर्श करें। इस स्थिति में हथेलियां नाभि पर गहरा प्रभाव डालेंगी। कुछ सेकण्ड इस स्थिति में रहकर मूलरूप में आएं। अन्त में बैठे-बैठे शवासन (कायोत्सर्ग) करें।

लाभ—योग मुद्रा के नियमित अभ्यास से [illegible] प्राण और अपान का मिलन [illegible] (तेजो [illegible] मण्डल) बनवाया जाता है। इस स्थिति में [illegible] जा सकता है।

वंध

वन्ध, हठयोग की महत्वपूर्ण क्रिया है जिसे सामान्यतया आसनो के बाद करने का विधान है। कही कही आसनो के साथ करने का भी आदेश है। वन्ध तीन है—

1. मूल वन्ध
2 उड्डियान वन्ध
3. जालन्धर वन्ध

1. मूल वंध

इस वंध मे पद्मासन, सिद्धासन, वज्रासन और सुखासन मे से किसी एक आसन मे वैठकर गुदास्थान (मूलाधार चक्र) को ऊपर की ओर खीचा जाता है। मूलवन्ध के वाह्य और आभ्यन्तर दो भेद है; किन्तु आभ्यन्तर का अभ्यास किसी सिद्ध साधक द्वारा ही किया जाना सम्भव है अत. जन साधारण के लिए वाह्य-मूलवन्ध ही करणीय है।

प्राण नाभि मे उत्पन्न होता है। साधारणतया वह एक रूप ही होता है, किन्तु गतिभेद और कार्यभेद के कारण वह प्राण और अपान इन दो भागो मे विभक्त हो जाता है। प्राण नाभि से ऊपर रहता है और अपान नीचे। क्योकि प्राण उच्च-गतिक होता है और अपान अधोगतिक। जब मूलवन्ध अपानवायु के निर्गमन द्वार को रोकता है तब गुदा-द्वार से अपान वायु पुन: नाभि मे लौटता है। वहा प्राण और अपान दोनो का मिलन होता है। उनके परस्पर आघात से हृदय मे अनाहत-ध्वनि उत्पन्न होती है। प्राचीन योग शास्त्रो मे मूलवन्ध के महत्व मे कहा गया है :—

अपान प्राणयो रैक्यात् क्षयोमूत्र पुरीपयो·।
युवा भवति वृद्धोपि सततं मूलवन्धनात्॥

हमारे मन को अपान ही अधिक दूपित करता है। शुद्ध अपान, गुदा कमल को जागृत करता है। क्रमश: जननेद्रियो के सात्विकनियमन

की सामर्थ्य प्राप्त होने लगता है। इस बंध के नियमित अभ्यास से मल मूत्र विसर्जन क्रिया नियमित और वासनाएं क्षीण होती हैं।

हर एक वासना की क्षीणता के लिए आत्म संयम अपेक्षित है क्योंकि यह उपादान है। परन्तु सहयोगी सामग्री के अभाव में बहुत बार आत्म संयम अधूरा ही रह जाता है, अतः सुदृढ़ वैराग्य के साथ मुक्त सुषुम्णा द्वार और मूलबंध की क्रिया अपेक्षित है। जिन लोगों को अधिक कोमल शय्या और स्प्रिंग वाले गद्दों पर सोने का अभ्यास है उनकी सुषुम्णा सदा अवरुद्ध और दुर्बल रहती है। उनकी अधिकांश मानसिक शक्तियां भी कुंठित रहती हैं।

2 उड्डियान बंध

योग क्रम के अनुसार सर्वप्रथम उड्डियान बंध का अभ्यास होता है फिर क्रमशः जालंधरबंध और मूलबंध का। शरीर संस्थान क्रम के अनुसार मूलबंध सर्वप्रथम किया जाता है।

विधि—उड्डियान बंध खड़े होकर भी किया जाता है और बैठकर भी। खड़े होकर पैरों को समानान्तर रेखा में सीधे रखें। फिर और कमर के पूर्व भाग को झुकाकर जांघ नुआ के कुछ ऊपर हाथों को इस प्रकार स्थित करें कि अंगूठे भीतर की ओर तथा अंगुलियां बाहर की ओर दृढ़ता से लिपट जाएं। फिर ग्रीवा को सीध में रहे, अर्थात् न ज्यादा नीचे झुका हो और न ज्यादा ऊपर उठा हो। भुजाओं और टांगों को पूर्ण सीधी स्थिति में तान दें, परन्तु शेष शरीर को सर्वथा ढीला रखें।

अब धीरे धीरे श्वास छोड़ें। अन्त में पूर्ण मात्रा में रेचक करके बाह्य कुम्भक करें और तुरन्त ही यथासंभव उदर को भीतर की ओर खींच लें। फिर थोड़ा सा स्कंधों को आगे बढ़ाते हुए कमर को ऊपर उठाएं और जांघों पर हाथों का दबाव डालें। कुछ देर यथाशक्ति इसी अवस्था में स्थिर रहें। अब बिना झटका दिए उदर को ढीला करके पूरक करते हुए प्रथम आकार में सीधे खड़े हो जाएं।

लाभ—इस बंध में नाभि स्थित प्राणों का उदर में से लाकर उन्हें पश्चिमवाही बनाने का प्रयास किया जाता है। उदर-संकोच जितना अधिक होता है उतनी ही शीघ्रता से सर्वत्र प्राणों का धारण करना

है। उड्डियान विधिवत् हुआ या नही, उसकी सही पहचान प्राणो की गति है। यदि प्राण सुषुम्ना और सूर्य-स्वर मे है तो सही हुआ है, अन्यथा नही। योग ग्रन्थो मे उड्डियान के महत्त्व मे कहा गया है—

उदरे पश्चिम तानं नाभे रुर्ध्वंच कारयेत् !
उडियान कुरुते यत् तद् विश्रान्त च महागजः॥

उड्डियान त्वसौ वन्धो मृत्यु—"मातग केसरी, घे० स०—2-10."

जिन्हे उड्डियान का पूरा अभ्यास है उन्हे रोग, बुढापा, वायु-विकार और मृत्यु कभी नही सताती।

3. जालन्धर बन्ध

इस वध मे पूरक के पश्चात् अथवा प्रारम्भ मे श्वास की सहज गति मे गर्दन को झुका कर ठुड्डी को छातीपर गले के समीप (कण्ठ-कूप) दृढता से जमाया जाता है। यहा चुल्लिकाग्रन्थि होती है जो ग्रीवा (थायराइड) के अग्रभाग मे नीचे की ओर होती है। इस ग्रन्थि का शरीर मे महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य की युवावस्था और बुद्धिमत्ता वहुत कुछ इस पर ही निर्भर है। इसके ठीक काम नही करने मे नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है। इस ग्रन्थि के निर्वल होने से जैसे स्वास्थ्य विगडता है वैसे ही यदि यह ग्रन्थि अधिक काम करने लग जाती है तो शरीर अनेक रोगो का घर वन जाता है और हृदय तथा धमनियो की गति वहुत वढ जाती है। कभी कभी इस ग्रन्थि को वाहर निकाल दिया जाता है फिर भी परिणाम सुखद नही आते। अत· हमे सयमपूर्वक इसके विकास का अभ्यास करना चाहिए।

ध्यान मे यह वध अधिक उपयोगी होता है।

व्यायाम और आसन

शरीर को स्वस्थ तथा यौवन को स्थिर रखने के लिए मनुष्य का पाचन-संस्थान यथायोग्य अपना कार्य करता रहे अर्थात् पाचन क्रिया तथा मल विसर्जन का कार्य पूर्ण रीति से होता रहे यह नितान्त आवश्यक है। इसके लिए भारत में व्यायाम तथा आसनों का प्रचलन हुआ है।

व्यायाम शब्द का अर्थ है—विशेष रूप से शरीर में तनाव पैदा करना। प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र में उन आसनों के लिए व्यायाम शब्द का प्रयोग किया गया है जिन आसनों में शरीर को अधिक ताना जाता है। पाश्चात्य शरीर शास्त्र ने शरीर विकास के लिए आज तक अनेक प्रणालियाँ निकाली हैं किन्तु उन प्रणालियों से जीवन का एक पक्षीय विकास होता है सर्वांगीण नहीं। योगासन संयम से शरीर का विकास करते हैं जोकि मानसिक संयम के बिना नहीं हो सकता। साधारण लोग उस व्यक्ति को बलवान समझते हैं जो देखने में हृष्ट पुष्ट हो। जिसका शरीर व्यायाम द्वारा मांसल तथा गठित हो पेशियाँ अत्यन्त उभरी हुई हों। भारी वजन उठाने तथा कोसों तक लम्बी दौड़ लगाने में समर्थ हो, किन्तु यह हमारा भ्रम है। व्यायाम से कुछ दिनों तक मल-बहिष्करण की शक्ति मनुष्य में बढ़ जाती है, किन्तु कुछ दिनों के बाद ही पेशियों तथा तन्तुओं की यह बहिष्करण की ताकत और आत्मीकरण की शक्ति क्षीण हो जाती है। अधिकांश व्यायाम करने वालों का शरीर वृद्धावस्था में क्षीण हो जाता है। पेशियों में कड़ापन शरीर में ऐंठन तथा नसों की शिथिलता का होना व्यायाम के प्रमुखतम परिणाम हैं। व्यायाम शरीर साधना का सरल उपाय है किन्तु योगासन उस दिशा में अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। व्यायाम से हमारे स्थूल शरीर की अभिवृद्धि तथा संरक्षण होता है किन्तु योगासन हमारे सूक्ष्म शरीर भाव-जगत को और हमारे मानसिक धरातल को भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। योगासन और प्राणायाम से केवल शरीर में पैदा होने वाले विजातीय द्रव्यों के निष्कासन में ही सहायक सिद्ध होते हैं प्रत्युत इनके सहज अभ्यास से हमारी वृत्तियों और वासनाओं का शमन भी होता है। व्यायाम से हमारी चेतना पवित्र हो ही यह आवश्यक नहीं पर आसन और प्राणायाम से हमारे संस्कार अवश्य परिमार्जित होते हैं हमारी प्रज्ञा स्थिर होती है और हमारा भाव जगत परिष्कृत शुद्ध बन जाता है।

प्राणायाम

शरीर शुद्धि का चौथा उपाय प्राणायाम है। श्वास-प्रश्वास से प्रत्येक नस-नाडी का शोधन होता है। घेरण्ड संहिता के अनुसार पूर्ण योगाभ्यास के सात प्रकार हैं—

शोधन दृढ़ता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।

प्रत्यक्षच निर्लिप्तं घटस्थ सप्त साधनम् 11 प्र– 12 श्लो० 9

1. षट्कर्म से शोधन होता है।
2. आसनो से शरीर मे दृढता आती है।
3. मुद्राओ के अभ्यास से स्थिरता होती है।
4 प्रत्याहार से धैर्य का विकास होता है।
5. प्राणायाम से शरीर मे हल्कापन आता है।
6. ध्यान से आत्म–प्रत्यक्ष होता है।
7. समाधि से मोक्ष-लाभ होता है।

प्राणायाम वात, पित्त और कफ को सम करता है, तथा कफ को विशेष क्षीण करके शरीर को हल्का करता है। इसीलिए योगाचार्यों ने नाडी-शोधक प्राणायाम को प्रारम्भ मे आवश्यक माना है। इसका पूर्ण वर्णन प्राणायाम प्रकरण मे देखे।

निस्संगता

निस्संगता आध्यात्म साधना का स्वर्ण-सूत्र है। संग का अर्थ है-लेप, आसक्ति और पर के प्रति चित्त की पकड़। जब बाह्यजगत के प्रति साधक का दृष्टिकोण निर्लिप्त हो जाता है—तब वह सहज-योग (सहजावस्था) के धरातल पर पहुंच जाता है। इस भाव-दशा में न कुछ स्वीकारना होता है और न कुछ छोड़ना। जो है उसमें निर्लिप्त भाव से जीना है। यह पूर्ण अन्तर्मुखता की स्थिति है। श्रीमद् राजचन्द्र ने साधक की पहचान बताते हुए यही लिखा है—

देहातीत रहे देह में
ते साधक पहिचान ॥

जो शरीर में रहता हुआ भी शरीरगत वेदनाओं से अछूता रहता है, जो शरीर चेतना में न जीकर आत्म-चेतना में जीता है और शरीर के सुख-दुःख से अतीत-अप्रभावित रहता है वही सच्चा आत्मसाधक है।

भूतदृष्टि (यथार्थदृष्टि) के अनुसार प्रत्येक आत्मा अपने भावों की कर्ता है। परभावों की नहीं। जब तक व्यक्ति में 'मैं भोग करने वाला हूँ, मैं ही त्याग करने वाला हूँ' यह कर्तृत्व भाव बना रहता है तब तक आसक्ति नहीं छूटती। समता व पूर्ण निस्संगता के लिए चाहिए परमसाक्षीभाव। यह घटना है दोनों छोर—त्याग-भोग, सुख-दुःख व राग-विराग के सम और मध्यस्थ बने रहने से।

शरीर शुद्धि में निस्संगता

यह स्पष्ट है—जहाँ शोधन क्षमता और ऊर्जा होता है चेतना उस केन्द्र के आगे और स्पन्दित रहती है। जो शरीर के प्रति ममत्व अनुरक्त है वह शारीरिक बाधाओं से ग्रस्त रहता है। धीरे धीरे शरीर की सूक्ष्म शक्तियों का मानसिक कुण्ठाओं में [illegible] जाती है। अतः साधक प्रथम चरण में

शरीराश्रित मोह को उभारने वाली प्रवृत्तियों से एवं पदार्थों से परहेज करता है, जैसे—

1 साधना-काल मे राग-वश किसी के शरीर का स्पर्श करना तथा अपने शरीर को सभालना ।
2 औरो के धारण किए हुए वस्त्र और बिछौनो का उपयोग करना ।
3 सुगन्धित पदार्थों और साबुन का प्रयोग करना ।
4 स्वाद से प्रेरित होकर भोजन करना तथा गरिष्ठ भोजन करना ।
5 देहात्मभिन्नता के बोध से रहित होकर जीना ।

योग के प्रत्येक चरण की साधना के साथ अनासक्तभाव का प्रबल होना आवश्यक है। इस भाव-दशा के बिना आसन-योग से भी ममत्व क्षीण न होकर (भेद-विज्ञान) शिथिल होने लगता है। अत प्रत्येक साधना मे अनासक्त-योग की अन्विति होना अनिवार्य है।

3

इन्द्रिय-शुद्धि

वासनाएं एवं इन्द्रिय-संयम
इन्द्रिय शुद्धि एवं आत्मोन्मुखता
इन्द्रिय शुद्धि के उपाय

•

इन्द्रिय शुद्धि के उपाय

इन्द्रियो का कर्त्तव्य स्वतन्त्र नही, मन के अधीन है, अत. उनके शोधन और नियमन के उपाय भी स्वतन्त्र नही हो सकते। तत्त्वतः- शरीर, इन्द्रिय और मन इन तीनो के हितो मे परस्पर विरोध नही है। इन्द्रियो से कामनाए जागती है, यह ओपचारिक कथन है। जव तक इन्द्रियो के साथ सराग मन नही जुड़ता जव तक कामनाए पैदा नही होती। दोनो मे कार्य-कारण भाव है।

(1) आसक्ति परिहार

इन्द्रिय शुद्धि का पहला साधन आसक्तियो को अल्पता है जो मानसिक सयम से होती है। जिस इन्द्रियद्वार से हमारा मन वाहर जाता है, भटकता है उसे वापिस लोटाने की कला का नाम ही इन्द्रिय-शुद्धि (दम) है। साधारणतया तीन इन्द्रियो से वासनाए जल्दी उभरती है :-
1 चक्षु 2 श्रोत्र और 3 जिव्हा

(2) अन्तर्विहार

जिस इन्द्रिय से मन वाहर जाए उसी इन्द्रिय को वन्द (निवृत्त) करके तत्काल आत्मजगत् मे जाकर सोचे–क्या इस दुनिया के शब्द, रूप और रस अधिक सरस, मोहक और जानदार नही है ? क्या यहा मुक्त-विहार करलेने के वाद मन पुन वाहर जाने को ललचाएगा ?

इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के आलम्बन लेकर इन्द्रिय-वातायन से मन को खीच ले।

(3) श्वास दर्शन

सांस जैसी भी चल रही है, उसे दूर खडे होकर देखने से चित्त की क्षीणता प्राप्त होती है। चित्त क्षय के वाद वृतियो की क्षीणता और आत्म-

रमण का अवसर आता है। अतः सर्वप्रथम श्वास-दर्शन के सहारे इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करें।

(4) विचार दर्शन

हम विचारों को उत्पन्न करते हैं और आवश्यकता वश उन्हें रोकते भी हैं। वस्त्र और अनाज की तरह विचारों का भी उत्पादन होता है। स्वस्थ विचार निर्माण की प्रक्रिया यह हो सकती है।

1 कल्पना शक्ति के सहारे स्वस्थ चित्रों का निर्माण,
2 हर बुरे विचार के स्थान पर अच्छे विचार का सृजन
3 सहज चल रहे विचार प्रवाह (मन) को द्रष्टा बन कर देखते रहना।

(5) नासाग्र ध्यान

नाक के अग्र भाग पर दृष्टि टिकाकर बैठना निर्विचारता की ओर प्रयाण है। यहां दृष्टि के स्थिर होते ही मस्तिष्क के कुछ तन्तुओं पर विशेष दबाव पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप मस्तिष्क विचारों से शून्य होकर शान्त हो जाता है। इस ध्यान का अभ्यास कहीं एकान्त में बैठकर करें जहां किसी का प्रतिबिम्ब तक न आए।

(6) सहजकुम्भक

श्वास जहां भी हो (बाहर या भीतर) उसे रोक दें और देखें कि रुके हुए श्वास का मन पर क्या असर हो रहा है मन चलता है या रुकता है।

(7) स्पन्दन रहित पलकें

आंखों की चपलता वैचारिक अस्थिरता को प्रमाणित करती है। इसलिए जब भी दिमाग को खाली और मन को निर्विकार बनाना हो आंखों की पुतलियों को जहां भी हो तुरन्त थाम दें। उप इन्द्रियों की ओर ध्यान न दें। वे स्वतः विवश होकर लौट आएंगी। कहावत भी है अलक्ष्य दृष्टि लक्ष्य को पा लेती है। जब आंखों और मस्तिष्क में जबतक गहरा तनाव न आए, तब तक देखते रहें। तनाव को भूलना ही तनाव टालने का हेतु है।

प्राणायाम-एक विश्लेषण

प्राणायाम-समदीर्घश्वास कायोत्सर्ग आनापानशुद्धि ॥ (मनोनुशासन प्रकरण—1 सू० 19)—प्राणायाम समश्वास दीर्घश्वास और कायोत्सर्ग के सतत अभ्यास से श्वास प्रश्वास की शुद्धि होती है।

इन्द्रिय-शोधन के पश्चात स्वर शुद्धि का होना अनिवार्य है। प्राणायाम स्वर शोधन की सर्वोत्तम प्रक्रिया है। इससे शरीर और मन दोनों का संयम होता है। आसन शारीरिक क्रिया है और प्रत्याहार मानस क्रिया, किन्तु प्राणायाम दोनों की संयोजक कड़ी है। प्राणायाम में प्राण और आयाम दो शब्द हैं। प्राण का अर्थ है-जीवनी-शक्ति और आयाम का अर्थ है—संयम। प्राणों पर संयम करना प्राणायाम है। अमरकोश में आयाम शब्द निम्नोक्त अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—दैर्घ्य (लम्बाई) आरोह (उन्नति) और परिणाह (विशालता)। इससे जाना जाता है कि आयाम का अर्थ प्राणशक्ति की वृद्धि तथा उन्नति करना है। पतंजलि ने श्वास प्रश्वास के गति विच्छेद को प्राणायाम कहा है। इसका आशय है—आसन दृढ़ता के बाद वायु का आकुञ्चन और निस्सरण सहज और संयत (सन्तुलित) होने लगता है। इस अवस्था में कोष्ठ वायु के विरेचन और बाहर की वायु के ग्रहण के साथ-साथ उसे बाहर और भीतर धारण करने की क्षमता भी क्रमशः प्राप्त होती है। इसी योग्यता का नाम गतिविच्छेद—विराम है। पूरक में वायु को भीतर रोका जाता है और रेचक में बाहर किन्तु कुम्भक में गति विच्छेद होता है। कई आचार्य कुम्भक में गति-विच्छेद का अर्थ यह करते हैं कि किसी स्थान (चक्र) विशेष में पूरक वायु को ले जाना और फिर वहीं उसे रोकना। प्राणायाम के विषय में अनेक धारणाएं हैं। वाशिष्ठ संहिता में कुम्भक के लिए ही प्राणायाम शब्द का प्रयोग है। विज्ञान-भिक्षु स्वामी कुवलयानन्दजी ने रेचक, पूरक और कुम्भक तीनों को स्वतन्त्र तीन प्राणायाम माना है। कई योग ग्रन्थों में तीनों के समूह को प्राणायाम कहा

है। वायु-जय प्राणायाम का स्थूल कार्य है। यहां रेचक, पूरक और कुंभक तीनो का समान कर्तृत्व है। किन्तु, आभ्यन्तर-प्राणायाम केवल कुंभक ही है जिससे चित्तवृत्तियो की लयावस्था का श्रीगणेश होता है। जैनाचार्यो ने रेचक, पूरक और कुंभक को राजयोग के धरातल पर पहुँचा कर उन्हे आत्मयोग तक कहने का साहस किया है।

प्राणायाम का महत्त्व

प्राणायाम के द्वारा शरीर के स्थूल तथा सूक्ष्म मलो का शोधन होता है। इससे श्वास फुफ्फुस के अंतिम भाग तक वायु-कोष्ठो मे पहुँचता है, जहां गैसो की अदला-बदली से रक्त को पूर्ण शुद्ध होने का और रक्त मे आक्सीजन को पर्याप्त मात्रा मे मिश्रित होने का अवसर मिल जाता है। यही शुद्ध रक्त शरीर के प्रत्येक सेलो तथा तन्तुओ मे जाकर उनका पोषण तथा बल-वर्धन करता है। मानसिक वेगो तथा उपवेगो के धारण का साहस इसी प्राणक्रिया के द्वारा स्नायुमण्डल मे पैदा होता है। बहुत बार क्रोध, भय, ईर्ष्या तथा चिन्ता आदि के कारण स्नायुओ मे भयकर तनाव पैदा होते है, जिनके कारण हृदय की रक्त-कोशिकाए शिथिल हो जाती है। यद्यपि बाह्य आघातो तथा अतर-प्रत्याघातो को सहने की ताकत मानसिक स्वास्थ्य से प्राप्त होती है, तथापि प्राणतत्व की अल्पता तथा अपान-दोष मन की समावस्था को भग कर देते है, अत: प्राणायाम शारीरिक तथा मानसिक दोनो प्रकार के रोगो के निवारण मे समान सहायक है। ओजस्वी-प्राणतत्व के द्वारा शरीर का सर्वागीण विकास होता है तथा मानसिक-स्थिरता समाधि तक पहुच जाती है। जैनाचार्यो ने प्राणायाम के महत्व मे बहुत कुछ कहा है, किन्तु, उनकी मीमांसा मे ध्यान, धारणा और समाधि-रूप मनोलय का मूल हेतु वैराग्य ही था, प्राणायाम आदि बाह्य क्रियाएं नही। जब वैराग्य-भाव अपूर्ण होता है तब कुछ प्रयास उसकी प्राप्ति मे सहायक हो सके, इसलिए किए जाते है, किन्तु जिनसे हृदय-ग्रन्थिया नही खुलती वे दिव्य-प्रयास भी हमारे अव्यक्त अहं के पोषक तथा उसी वासना के परिवर्तित रूप बनकर रह जाते है। ज्ञानार्णव मे आचार्य शुभचन्द्र कहते है—पवन-प्रयोग मे निपुण-योगी क्रमश. शरीर-लाघव, काम-विजय, रोग-नाश तथा मनोलय की योग्यता को निस्सदेह प्राप्त करता है।

प्राणायाम के निरतर अभ्यास द्वारा आसुरी वृत्तियो का ह्रास होकर देवी-शक्तिया प्रबल होती है। प्राणायाम के अभ्यास से ही मनुष्य कामेन्द्रियो

पर विजय प्राप्त कर उनका स्वामी बन जाता है। अन्त में उन दूषित वृत्तियों के संस्कार नान शान मूल्त नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य अक्षय आनंद की अनुभूति करने लगता है। जिस प्रकार अग्नि म जलान से धातुओं के मल जल जाते हैं उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं। प्राणायाम से ज्ञान रूपी प्रकाश को रोकने वाला अविवेक रूपी आवरण क्षीण हो जाता है, फलतः उसकी प्रज्ञा स्थिर होकर दिव्य सृजनात्मक कामों में प्रवृत्त होती है।

प्राणायाम के महत्त्व में यही बात महर्षि घेरण्ड आदि योगाचार्यों ने कही है, यथा—

(1) आकाश विहार
(2) रोग-नाश
(3) बोध-शक्ति
(4) मानसिक प्रसन्नता
(5) आत्मानंद की उपलब्धि

संक्षेप में प्राणायाम के महत्त्व म इतना ही कहा जाना चाहिए कि इससे गति में प्रगति होने लगती है।

प्राण और अपान

हमारे शरीर मे प्राण-वायु का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके बिना शरीरगत मल-दोष, रक्त, और वीर्य आदि तत्त्वो का यातायात मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। मल-वहिष्करण का आधार भी यही वायुतत्त्व है। वायु के पांच मुख्य तथा पांच गौण भेद है—

मुख्य भेद—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान,

गौण भेद—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय।

"प्राणोऽपान: समानश्चोदान व्यानास्तथैवच।
नाग.कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयो" —घेरण्ड संहिता

प्राण आदि दसो वायुओ के हमारे शरीर मे नियत-स्थान और नियत उपयोग है, यथा—

1–प्राण—नासाग्र, हृदय, नाभि और पादाङ्गुष्ठ तक रहता है।
2–अपान—पीठ, पीठ के अन्त्यभाग और एड़ियो मे व्याप्त है।
3–समान—हृदय, नाभि और संधि-स्थानो मे विचरता है।
4–उदान—हृदय, कण्ठ, तालु और शिर मे घूमता है।
5–व्यान—त्वचा मे रहता है।
6–नाग—स्वर-यंत्र से शब्द उत्पन्न करता है।
7–कूर्म—नेत्रो की उन्मेष-निमेष क्रिया मे सहायक है।
8–कृकर—भूख पैदा करता है।
9–देवदत्त—जम्भाई लाता है।
10–धनञ्जय—सारे स्थूल-शरीर मे व्याप्त है।

प्राण आदि पांचो वायुओ के मुख्य स्थान एक-एक ही है। इस विषय मे एक धारणा यह है कि प्राण और अपान दोनो नाभि मे उत्पन्न होते हैं। प्राण तत्काल सहजगति से 12 अंगुल ऊपर (नाभि से हृदय) हृदय मे पहुच जाता है

और अपान नीचे चला जाता है। इसीलिए जन मनीषियो ने प्रथम प्राण को हृदय म धारण करने की विधि सुझाई है। नासाग्र हृदय से बारह अगुल ऊपर (जालधर स्थिति म) है, किन्तु वहा प्राणो का प्रेषण और स्थिरीकरण नासाग्र ध्यान (त्राटक) पर अवलम्बित है सहज-साध्य नही। वायु जय के पहले इन पाचो के मुख्य स्थान जान लेना आवश्यक है—

हृदि प्राणो वहन्निरव अपानो गुदमण्डले।
समानो नाभि देशतु उदान कण्ठमध्यग ॥
व्यानो व्याप्त शरीरेतु प्रधाना पच वायव ।' —घेरण्ड सहिता

इन पाचो वायुओं म प्राण और अपान दो मुख्य हैं। प्राण का अर्थ बहु विद्वान श्वास को बाहर निकालना और अपान का भीतर लेना करते हैं। किन्तु शब्द शास्त्र की दृष्टि से श्वास लेना प्राण है और निकालना अपान है। श्वास प्रश्वास प्राण-अपान के बाह्य रूप है। इनका सम्बन्ध केवल फेफड़े की गति स है। फफड़ो की गति को सतुलित तथा पुष्ट बनाना, प्राणायाम (नाड़ी शोधन) का स्थूल कार्य है। आधुनिक स्वास्थ्यवेत्ता तथा पश्चिमी विद्वान अब इस निर्णय पर पहुच हैं कि हमारे शरीर म शक्तिस्रोत वात-सस्थान ही है। यदि यह किसी प्रकार दूषित हो गया तो फिर मनुष्य कितना ही हृष्ट-पुष्ट क्यो न हो उसका शरीर निकम्मा और चेष्टाहीन हो जाएगा। चेतन-नाड़िया मे यथावश्यक शुद्ध रक्त न पहुंचने से तथा वात सेलो, वात सूत्रो और वात-तन्तुओ म घातक (मल) पदार्थों के बहिष्करण के साधन नहा होने स जीवनी शक्ति क्षीण हो जाती है। कुछ समय के बाद तो उनमे रक्त की माग ही बन्द हो जाती है। इस स्थिति म योगासन और प्राणायाम सर्वोत्तम उपाय हैं। आसनों स नाड़िया म लचक पैदा होती है और उनम रक्त की मांग जगायी जाती है। जबकि प्राणायाम उनकी सूक्ष्मता म शोधन और बल-वर्धन करता है अत प्राण जय इन्ही नाड़ियो की स्वस्थता पर विशेष रूप से निर्भर है।

प्राण विजय और उसके उपाय

प्राण और अपान दोनों परस्पर संबधित है। प्राणवायु की विकृतावस्था मे अपानवायु विजित नही होनी, क्योंकि दूषित प्राणवायु से वासनाएं (काम, क्रोध आदि) उभरती है। इस उभार का सीधा असर शुक्र-ग्रन्थियों तथा डिम्बग्रन्थियो पर होता है। रक्त-प्रवाह वृपण-ग्रन्थियो मे अधिक होने लगता है। इससे नवोत्पन्न वीर्य तथा पूर्व-संचित वीर्य दोनों अपान वेग से वह निकलते है। यही वात अशुद्ध अपान के विषय मे है। इसका सवसे पहला असर नाभि पर होता है, जहां से प्राण और अपान का प्रसव होता है। किन्तु अनेक वार अपान-दोप के कारण जननेन्द्रिय उत्तेजित हो जाती है। स्वप्न-दोष, वीर्य-पात और मैथुन इसी उत्तेजना के परिणाम हैं। वीर्यक्षय वाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणों से होता है।

प्राण दूषित होने के कारण

1–मलाशय और मूत्राशय का मल-मूत्र से भरा रहना। इनके दवाव से शिश्न मे रक्त-प्रवाह वेग से होने लगता है। दवाव यदि शुक्राशय और गर्भाशय पर विशेप होता है तो स्वप्नदोष के रूप मे वीर्य-क्षरण होने लगता है। इसीलिए प्रात.काल तथा वेग-दशा मे मल-मूत्र को रोकना अत्यन्त हानिकारक माना गया है। जैन सूत्रो मे भिक्षा के लिए गए हुए मुनि के लिए विधान है कि यदि उसे कभी मल-मूत्र के विसर्जन की आवश्यकता हो तो तत्काल योग्य स्थान की खोज करके वह वेग को शान्त कर ले, रोके नही।

2–अधिक आहार से आमाशय का भरा रहना।

3–जीर्ण, अपचन व कोष्ठ-वद्धता।

4–मानसिक श्रम की अधिकता।

5–चिन्ता और भय।

6–जननेन्द्रिय सम्बन्धी नाड़ियों का उत्तेजित रहना।

7–निरन्तर पृष्ठ पर शयन करना अथवा उस पर अधिक दबाव पड़ना।

वीर्य-क्षय से बचने के उपाय

1–मलमूत्र का नियमित उत्सर्ग

2–उर्ध्वीकरण

3–नियमित आसन और प्राणायाम

4–प्राण दूषित होने के कारणों का अभाव

5–प्राणवायु को वश में करने से पूर्व मन और बिन्दु की सामान्य (सन्तुलित) स्थिति होनी चाहिए। तीनों की विजय रेखा एक ही है, क्योंकि प्राणों पर विजय होने से मन और बिन्दु पर तथा बिन्दु पर विजय होने से प्राण और मन पर विजय स्वतः हो जाती है। प्राण को वश में करने के प्रमुख चार उपाय हैं।

प्रथम—नासाग्रध्यान। इसमें साधक करने से श्वासप्रश्वास के आने जाने का बोध पृथ्वी आदि तत्त्वों और उनके रंग आदि धर्मों का साक्षात्कार होने लगता है। इसके लिए कम से कम चार महीने तक किसी ध्यानासन में बैठकर आधा घण्टे तक नियमित अभ्यास करना चाहिए। साधक में प्राण-तत्त्व सूक्ष्म और हल्का होता है। आंतों और नासाग्र-स्थित प्राण के मल का कुण्डलिनी-ग्रन्थि और गुदा मण्डल पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

मूर्द्धन्य (सुषुम्नाड़ी) एक रबर की नली के समान पोली नाड़ी है जिसे प्राणों का संचार मार्ग कहा जाता है। जब किसी उच्चवर्ती (ब्रह्मरंध्र भ्रूमध्य नासाग्र) स्थान पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है तब यह नाड़ी स्वतः प्राणवायु से भरने लग जाती है। जिस प्रकार कि रबर की नली पानी के भरने से तनी हो जाती है।

इस नाड़ी के खोलने का अर्थ है—किसी उच्चतर बिन्दु पर ध्यान करने से यह नाड़ी तनी रहे और प्राणवायु अधिक से अधिक देर तक

वहाँ रुका रहे। ध्यान एक प्रकार की विद्युत है। जैसे चुम्बक-पत्थर लोहे को खीचता है उसी प्रकार ध्यान प्राणो को खीचकर ऊपर-नीचे चढाने और उतारने का काम करता है। नासिकाग्र पर ध्यान ठहरने से प्राण बाहर निकलता है और मूलेन्द्रिय तनी रहती है, अर्थात्—मूलेन्द्रिय के तने रहने से नासाग्र पर ध्यान अधिक देर तक ठहर सकता है।

वीर्य की अधिकता भी प्राणविजय मे बाधक है। यदि उसे ओज रूप मे परिवर्तित नही किया गया तो साधक के लिए महान खतरा है। भगवान महावीर ने एक अवस्था तक मुनियो के लिये पौष्टिक रस—दूध, दही, घृत आदि पर प्रतिबन्ध लगाया। इसके अधिक सेवन से वीर्य-भार बढता है। धीरे-धीरे गुदा-कमल कामाग्नि से जलने लगता है। अतः वीर्य के कम और अधिक बनने का कोई महत्व नही है। महत्व है, उसके पचने का और ओज रुप मे परिवर्तित होने का। इस प्रक्रिया मे शारीरिक और मानसिक विकास तीव्रता से होता है। आत्म-विश्वास, धैर्य, क्षमा, दूरदर्शिता और अटल-मनोबल आदि सब ओज-शक्ति से प्रसूत प्राण-विजय के सुपरिणाम हैं।

द्वितीय—वैराग्य सब सिद्धियो का मूल है। जिसमे वैराग्य तीव्र नही है वह किसी भी क्षेत्र मे विकास तो कर सकता है, किन्तु विजय प्राप्त नही कर सकता। प्राण-विजय का सबसे सरल उपाय है, कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग का अर्थ है, शरीर और उसकी समस्त सहचारी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्तियो से भिन्नत्व, अनासक्ति और शिथिलता का अनुभव करना। इससे सारा स्नायु-मंडल प्राणवान रहता है। श्वास-प्रश्वास मे सहजता, सूक्ष्मता और तरतमता आती है। इस क्रम से स्नायुओ का तनाव व रक्त और वीर्य मे शेष रही उत्तेजना शान्त हो जाती है।

प्रारम्भ मे इसका अभ्यास आसनो के बाद, सोते समय और विश्राम के समय विशेष रूप से करते रहना चाहिये। इसका पूरा क्रम आप पहले पढ़ चुके हैं।

तृतीय—प्राण-विजय का एक उपाय नाडी-संस्थान का ध्यान है। शरीर मे कई ऐसे नाडी-केन्द्र है जिनपर ध्यान करने से प्राण और मन दोनो शांत हो जाते है। प्राचीन प्राकृतिक चिकित्सक लोग सबसे अधिक तीव्र संवेदन-शक्ति पैरो के तलवो मे मानते थे। आयुर्वेद के अनुसार भी

जितनी जल्दी तलुओ की मालिश से शरीर मे गर्मी और सर्दी पहुँचाई जा सकती है उतनी और किसी अवयव विशेष के द्वारा नही, अत अगुष्ठ के ऊपर मन को केन्द्रित करने से प्राण सूक्ष्म और सहजगतिक होकर वही पहुँच जाता है। यह एक प्रयोग है। महाप्राणायाम की साधना में इसी स्थान पर प्राण को स्थिर किया जाता था। इस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयवो पर ध्यान करने का क्रम है।

चतुर्थ--प्राण का मूलकेन्द्र नाभि और पेडू के मध्य है। इस स्थान पर ध्यान करने से प्राण-विजय बहुत ही आसानी से होता है, ऐसा साधको का अभिमत है।

अपान-विजय और उसके उपाय

प्राण और अपान का परस्पर सम्बन्ध है, यह जान लेने के वाद एक प्रश्न होता है कि—पहले किस वायु की विजय पर ध्यान देना चाहिये ? प्राण-विजय का विशेष असर ज्ञानेन्द्रियो पर होता है और अपान-विजय का असर कर्मेन्द्रियों पर। अपान-वायु का स्थान नाभि से गुदा तक है—इसका कार्य मल-मूत्र का विसर्जन करना है। मलाशय और मूत्राशय की विकृतावस्था मे अथवा उनमे मल के अधिक जमा होने से मन चचल और अप्रसन्न होकर आलस्य से भर जाता हे। इसकी शुद्धि से क्षुद्रान्त्र, वृहदन्त्र, पाचन-विभाग, शुक्र-ग्रन्थिया और जननेन्द्रिय-ग्रन्थि अपना काम व्यवस्थित रूप से करती है। अपान-वायु की अशुद्धि से अनेक वीमारियां उत्पन्न होती है। अपान-दोप का पहला कारण है—उदर-अशुद्धि तथा दूसरा कारण है– मांसपेशियो मे वायु का भरा रहना।

पेट की अशुद्धि से कब्ज का आक्रमण होता है। पाश्चात्य विद्वानों ने कब्ज निवारण मे उत्कट आसन को भारतीय महर्षियो के अनुभव का एक उदाहरण माना है। आज विदेशो मे वडे वेग से शौच-कूपो का प्रयोग हो रहा है, जहाँ कुर्सी की तरह वैठ कर मल-त्याग किया जाता है। विद्वान हार्णीब्रुक ने कहा है, यह हमारे लिए अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुआ है जवकि पश्चिमी जाति के कई शारीरिक रोगो को दूर करने मे उत्कट आसन अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है।

योग-शास्त्र मे उदर की मास पेशियो को गति देने वाले आसनो को उदर शोधन के लिए अत्यन्त आवश्यक माना है, उनमे कई सूक्ष्मक्रियाएं है और कई स्थूल-आसन—

सूक्ष्म क्रियाएं	स्थूल आसन
1 योग मुद्रा	1 मयूरासन
2 मूल बंध	2 पश्चिमोत्तान आसन
3 अश्विनी मुद्रा	3 पूर्वोत्तान
4 जिह्वा व्यायाम	4 नौली क्रिया
	5 ताड़ासन

सूक्ष्म क्रियाओं में कुछ की विधि इस प्रकार है —

योग मुद्रा—इसके दो रूप हैं। एक में हाथ पीछे पुच्छास्थि पर रहते हैं और दूसरे में दोनों हाथों को ऊपर नीचे नाभि पर रखकर आगे की ओर झुकना होता है। इसमें जालंधर बंध और मूल बंध दोनों अनिवार्य हैं। उड्डियान बंध प्रारम्भ में नहीं होता क्योंकि बिना कुम्भक के यह टिकता नहीं, अतः शुरू में श्वास की गति सामान्य होती है। इससे अपान का उद्गम स्थान—नाभि स्वस्थ होती है।

अश्विनी मुद्रा—गुदावयव की संकोच विकोच क्रिया में जीवनी शक्ति है सौन्दर्य है। अधिकांश पशु मलोत्सर्ग के बाद गुदा को ढीला करके उसका भीतर और बाहर संकोचन और प्रसारण करते हैं। इससे शेष मल बाहर निकल जाता है। किन्तु यह क्रिया मनुष्य सहजतया नहीं करता। उसे सीखना होता है। इसकी पूरी विधि यह है—दोनों समय स्वाभाविक रीति से मल त्याग करने के बाद दूषित अपान को शुद्ध करने के लिए कई बार इसे किया जाए अथवा खड़े हुए घोड़े की मुद्रा में संकोच विकोच करें इससे ध्यान में बड़ी सुविधा होती है। कई योगाचार्य श्वास के साथ संकोच और प्रश्वास के साथ विकोच करने का सुझाव भी देते हैं ताकि दूषित अपान बाहर निकल सके। अपान शुद्धि के पूर्व एक आसन पर अधिक देर (घण्टों तक) बैठने और खड़े रहने से भी कब्ज हो जाता है और इससे अपान दूषित होता है।

ध्यानमूर्ति स्वर्गीया साध्वीश्री रत्नश्रीजी के शब्दों में ध्यान नहीं लगने का मुख्य कारण वायु विकार (प्राण का असंयम) है अतः वायु का असंतुलन करना प्रत्येक साधक को सीखना चाहिए। यही वायु-विकार हमारे मन की चपलता का हेतु है। यदि शरीर स्थित दूषित वायु को किसी प्रयोग के द्वारा बाहर निकाल दिया जाए तो साधक बहुत शीघ्र ध्यान साधना से आनन्द प्राप्त कर सकता है। यह सभी का स्वानुभव है।

प्राणायाम की विधियां और उसके भेद

योग-ग्रंथो मे प्राणायाम के पूर्व नाडी-शोधन का विधान है। वहा नाडी शब्द का प्रयोग पाचक-सस्थान, अस्थि-संस्थान, रक्तवाही-संस्थान और चेतना-नाडी संस्थान के लिए हुआ है। इनकी शुद्धि के विना योगी प्राणो पर विजय नही पा सकता। कहा भी है :—

> शुद्धि मेति यदा सर्वे नाडी चक्रमलाकुलम् ।
> तदेव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥

(हठयोग प्रदीपिका–प्र० 2. श्लोक 51)

मल से भरी हुई नाडियो मे वायु अवाध गति से नही चल सकता और दूषित नाडियां वायु-मण्डल से शुद्ध प्राणतत्त्व को ग्रहण नही कर पाती; अत प्राणधारणा के पूर्व नाडी-शोधन जरूरी है। यही कथन महर्षि घेरण्ड का है—

> मालाकुलासु नाडीसु मारुतो नैव गच्छति ।
> प्राणायामः कथसिद्धिः स्तत्त्वज्ञानं कथं भवेत् ॥ घे० संहिता ।

माला की तरह परस्पर गुंथी हुई नाडियो मे वायु सहज गति से नही चल सकता और वहुत सारी मांस पेशियो तक वह पहुँच भी नही पाता। इस स्थिति मे किया गया प्राणायाम सिद्ध नही होता।

नाड़ी-शुद्धि के प्रकार और साधन

नाडी शोधन के मुख्य दो प्रकार है :—

1. समनु नाडीशोधन 2. निर्मनु नाडीशोधन

समनु नाड़ीशोधन की प्रक्रिया षट्कर्म—धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति है। यह उन लोगो के लिए विहित है जिनमे कफ-दोष, वात-दोप और मल-दोप वहुत ज्यादा होता है। सवके लिये यह आवश्यक नही है। जैसे कहा भी है—

अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावत ॥ उप० 2 श्लोक 29 ।

—जिनके दोष शान्त हैं वे षट्कर्म का आचरण न करें।

नाडी-शोधन का दूसरा प्रकार मनोलय की भूमिका के अधिक निकट है। जिसे मनोनुशासन में वायु विजय कहा है। निम्नु-नाडीशोधन की प्रक्रिया और मनोनुशासन वर्णित वायु-जय का क्रम एक समान है। कई आचार्यों के दृष्टिकोण से सब प्रकार के मल प्राणायाम (वायु जय) से ही नाश होते हैं। जैसे—

"प्राणायाम रेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति। उप० 2 श्लोक 37।

जो पाचों वायुओं के प्रमुख स्थान है वहां बीज मंत्र या इष्ट मंत्रों (सोहं अर्हं, ओम) का रेचक पूरक और कुम्भक में लय-बद्ध जाप करने से इन पाचों पर विजय होती है। यह नाडी शोधन का सूक्ष्म क्रम है। इससे शरीर और मन दोनों का शोधन होता है। यह प्रात और सायं किसी एक ध्यानासन में बैठकर किया जाता है। नाडी शोधन में रेचन-क्रिया का विशेष महत्व है, क्योंकि इसमें विजातीय के विसर्जन की प्रबल क्षमता अपेक्षित है। जब तक शारीरिक और मानसिक-विकारों का सहज (वैराग्य से) रेचन होने नहीं लग जाता तब तक विशेष अभ्यास करना होता है। नाडी शोधन के फल (वायु-जय) श्वास-प्रश्वास पर अधिकार जठराग्नि-प्राबल्य और आरोग्यता की प्राप्ति है। योग-शास्त्र के अनुसार इसके बाद ही कुम्भक-शक्ति बढ़ती है। कुम्भक मन की स्थावरता है किन्तु रेचक और पूरक में मन लीन नहीं होता हो ऐसा भी नहीं है। ईर्यापथ की पवित्रता स्वप्नवृत्ति का नियमन और भावक्रिया का परिष्कार बिना कुम्भक में भी हो सकता है। आप जानते हैं कि कुम्भक-शक्ति एक साथ नहीं बढ़ती। फेफड़ों पर ज्यादा दबाव पड़ने से रक्त-चाप किया में बाधा उपस्थित होती है और सबल पुरुष बलहीन होने लगते हैं। अतः साधक को सब प्रथम सहजावस्था के विकास में माध्यम, रेचक और पूरक पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कुम्भक स्वतः प्राप्त होता है किन्तु श्वास धीरे धीरे रोकने का अभ्यास अवश्य होना चाहिए।

पूरक वायु को शरीर के किसी विशेष अवयव पर पहुँचाकर नियत स्थान पर पहुँचने के बाद उसे वहीं चक्र की तरह घुमाया जाए। जब वायु का भार बढ़ता हुआ अनुभव होने लगे तब धीरे धीरे उसका बहिष्करण कर दिया जाए। जैसे बताया गया है—

1. सहित प्राणायाम

इस प्राणायाम के दो भेद हैं—सगर्भ-प्राणायाम और निगर्भ-प्राणायाम। मन्त्रो के उच्चारण व ध्यान के साथ जो प्राणायाम किया जाता है वह सगर्भ-प्राणायाम है और जो मन्त्ररहित है वह निगर्भ-प्राणायाम है।

'ओम्' का मानसिक जाप (छः बार) करते हुए बाएं नासापुट से धीरे-धीरे श्वास को मूलाधार तक ले जाएं। कुम्भक मे चौवीस वार 'ओम्' का जाप करें। पूर्ववत् बारह वार मानसिक जाप करते हुए धीरे-धीरे श्वास को दांएं नासापुट से रेचन कर दें। थोडी देर श्वास को बाहर रोके। उस रुके हुए श्वास मे बारह 'ओम्' का जाप करे। इस प्रकार दोनो नासारध्रो से बराबर करे। इस प्राणायाम को एक साथ दोनो नासारध्रो से भी किया जा सकता है।

लाभ—शरीर के किसी भी अस्वस्थ अवयव पर इस विधि से प्राण को पहुँचाया जा सकता है तथा चक्रो के जागरण मे इसका प्रयोग सिद्धिदायक है।

2 सूर्यभेदी प्राणायाम

दाये स्वर से पूर्णतया प्राणवायु को कोष्ठ मे भर लें। जबतक रोक सके उसे रोके। तत्पश्चात् धीरे-धीरे बाए छिद्र से श्वास को निकाल दे। यह एक आवृत्ति हुई। पुनः सूर्यनाडी से पूरक, वाम-नासिका से रेचन किया जाए। इस प्राणायाम से शरीर मे गर्मी बढ़ती है अत. यह शीतकाल मे, शीत स्थान मे तथा शीत प्रकृति वाले लोगो के लिए ही बारम्बार करणीय है। गर्मी मे तथा पित्त-प्रकृति वालो के लिए यह विशेष हितकर नही है।

लाभ—इससे वात और कफ से उत्पन्न रोग, गैस, उदर-कृमि, नजला, मन्दाग्नि आदि नष्ट होते हैं। कुण्डलिनी पर भी इस प्राणायाम का प्रभाव पडता है।

इसी विधि से चन्द्र-भेदी प्राणायाम होता है। वाम-नाडी से पूरक और दायी नाडी से रेचक। इस प्राणायाम से गर्मी शान्त होती है। रक्त शुद्ध और प्रेशर (रक्त-दवाव) नियमित होता है।

3 उज्जायी प्राणायाम

मुंह को थोडा सा झुकाकर, कण्ठ से हृदय तक श्वास भरते हुए दोनो नासारंध्रो से पूरक करें। कुछ समय तक कुम्भक करने के बाद

बाम-नासिका से रेचन करदें। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्राणायाम में विशेष सावधानी अपेक्षित है। इसमें पूरक रेचक और कुम्भक तीनों का समय स्वल्प होता है। कुम्भक में वायु हृदय से नीचे न जाये। इसे पांच से आरम्भ करके धीरे धीरे बढाए।

लाभ—इससे उदर रोग, आमवात और मन्दाग्नि दूर होती है। कंठ तथा मुख के रोग क्षीण होते हैं तथा पतला कफ गाढा बनकर तुरन्त निकल जाता है।

4 शीतली कुम्भक

कौए की चोंच की तरह जीभ को ओष्ठ से बाहर निकाल कर या जीभ को तालू में चढाकर मुंह से वायु को धीरे धीरे भीतर खींचा जाए। कुछ देर वायु को पेट में रोक कर रखें। कुम्भक पूरा होते ही दोनों छिद्रों से रेचन कर दें।

शीतली कुम्भक

लाभ—इससे अजीर्ण, गर्मी से उत्पन्न हान वात रोग, रक्त-विकार, अम्लपित्त पवित्र तथा तृषा आदि रोग दूर होते हैं। शीतकाल में इसका प्रयोग सामान्यतया निषिद्ध है। यह शीतकारी भी एसा ही है। केवल आवाज के साथ पूरक किया जाता है।

5 भस्त्रिका प्राणायाम

इसके चार प्रकार हैं–1 मध्यम भस्त्रिका, 2 वाम भस्त्रिका, 3 दक्षिण भस्त्रिका तथा 4 अनुलोम-विलोम भस्त्रिका।

1. लुहार की धमनी की तरह दोनो नासापुटो से जोर से दीर्घ-श्वास का पूरक (मूलाधार तक) करे और कुम्भक किये विना तत्काल दोनो रध्रो से रेचन कर दे। इस प्रकार नौ आवृत्ति करने के पश्चात् कुम्भक करके रेचन कर दे। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार प्रारभ मे तीन वार करे फिर क्रमशः वढाते जाए।

2. वाम नासिका से पूरक और रेचक करते हुए शेप क्रिया पूर्ववत् करें।

3. इसी क्रिया को दक्षिण नासिका से पूर्ववत् करे।

4 वाम-नासिका से श्वास का आवाज के साथ पूरक करते हुए मूलाधार तक जाए। शेष विधि पूर्ववत् है। इसी प्रकार दायी नासिका से करे। इन प्राणायामो को करते समय पूरक मे मूलाधार पर कुछ सेकण्ड ध्यान जमाएं, रेचक मे नासाग्र पर और कुम्भक मे मणिपूर (नाभि) पर।

भस्त्रिका प्राणायाम

6 भ्रामरी प्राणायाम

इसमे पूरक वेग से, भौंरे की जैसी ध्वनि के साथ होता है और रेचक भौंरी-ध्वनि मे। शेप विधि पूर्ववत् है।

7. मूर्छा प्राणायाम

इसमे शेप सव भ्रामरी प्राणायाम जैसा होता है। केवल हमारी स्थिति सर्वेन्द्रिय-गोपन-मुद्रा मे रहेगी।

8 प्लाविनी प्राणायाम

किसी एक आसन में बैठ कर दोनों नासारन्ध्रों से पूरक करें। नाभि पर मन को एकाग्र करके सारे पेट को मशक की तरह भर लें। ऐसा अनुभव करें कि सारे अवयवों से वायु निकल कर पेट में भर गया है। फिर धीरे धीरे रेचन कर दें।

लाभ—इससे प्राणवायु पर विजय, पेट के रोग शान्त तथा अपान शुद्ध होता है।

पूर्वोक्त आठों प्राणायामों के विषय में विस्तार से पढ़ने के पश्चात् सहज ही प्रश्न उठते हैं कि मानसिक स्वास्थ्य के लिये कौन-कौन से प्राणायाम करने चाहिए? वैसे किसी भी प्राणायाम से मानसिक स्थिरता पैदा की जा सकती है किन्तु सामान्यतया प्रारम्भ में भस्त्रिका करके अनुलोम विलोम प्राणायाम या अपने लिये हितकर किसी एक प्राणायाम को पन्द्रह मिनिट के लिये करना उपयुक्त है। पर लाभ के लिये कुछ समय प्रतीक्षा तो करनी ही होगी।

प्राणायाम और बन्ध

कुम्भक-सहित प्राणायाम में बन्धों का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। पूरक के अन्त में तथा कुम्भक में जालन्धर-बन्ध (सिर को झुकाकर ठोडी को कण्ठ-कूप में दृढ़ता से जमाना), कुम्भक के अन्त में तथा रेचन में उड्डियान-बन्ध होता है। कण्ठ प्रदेश के संकोचन से नीचे के प्रदेश मूल-नाड़ी के शीघ्र तनन से और मध्य में पश्चिमोत्तान (उदर प्रदेश को पृष्ठ की ओर दबाना) करने से प्राणतत्त्व ब्रह्म-नाड़ी में चला जाता है। हठयोग प्रदीपिका में इस का सांगोपांग वर्णन है —

> पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः
> कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥ 1 2 45
> अधस्तात् कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते
> मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ 1 2 49

> पूरक में—मूल-बन्ध, अन्त में जालन्धर-बन्ध
> अन्तर कुम्भक में—जालन्धर-बन्ध मूल-बन्ध
> रेचक में—उड्डियान बन्ध, मूल-बन्ध
> बाह्य कुम्भक में—जालन्धर बन्ध, मूल-बन्ध, उड्डियान-बन्ध

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ इन चार भावनाओ का वर्णन प्राय: चार स्वतन्त्र भावनाओं के रूप मे मिलता है। इससे लगता है कि ये चार भावनाये योग-परिणाम हैं, किन्तु योग-वीज नही हैं। ये धर्म-ध्यान के विकास-क्षणो मे साधक को स्वत प्राप्त होने लगती है। पूर्वोक्त वारह भावनाओ के अभ्यास के वाद दश धर्म-भावनाओं का स्थिर अभ्यास किया जाता है। कई जैनाचार्यो की दृष्टि से ये चार भावनाएँ वाद मे विकसित हुयी है।

मैत्री भावना—वर्षों से हम देखते है, जहां मनुष्य मैत्री की धारा वहाना चाहता है वही किसी अज्ञात मन के कोने से अप्रेम और घृणा की धारा वह निकलती है। तत्काल प्रतिशोध के भाव उभर आते है। इस मानसिक दुर्वलता को क्रमश. कम करने के लिए मन को वार-वार शुभ-सकल्पो से भावित करना आवश्यक है। मैत्री भावना के कुछ सूत्र है—

1. मेरी सवके साथ मैत्री है।
2. मुझे समता प्रिय है।
3 प्राणिमात्र मेरा वंधु है।
4 मैत्री मे मेरा विश्वास है।

प्रमोद भावना-दूसरो के अच्छे विचारो और व्यवहारो का हृदय से आदर करना प्रमोद-भावना है। अपनी दरिद्रता (दुर्वलता) पर आसू नही वहा कर, दूसरो की सम्पन्नता पर हर्षाश्रु वहा सकने की क्षमता, प्रमोद-भावना से प्राप्त होती है। इसके मूल सूत्र है--

1. मेरा गुणो मे अनुराग है।
2 मै गुणों का पूजक हूँ।
3 मेरा गुणीजनो मे आदर भाव है।
4. प्रमोद मेरा आत्म-धर्म है।

करुणा भावना—करुणा के मूल सूत्र है—

1. सवके प्रति मुझ मे दया हो।
2 सव सन्मार्ग पर चले।
3. सभी दुखो से छुटकारा पाएं।
4 करुणा मेरा आत्म-धर्म है।

माध्यस्थ भावना—माध्यस्थ भावना के मूल सूत्र हैं—

1 मैं सर्वत्र मध्यस्थ—सम रहूँ।

2 मुझे समता प्रिय है।

3 मेरे में उपेक्षा भाव जागे।

4 माध्यस्थ मेरा आत्म धर्म है।

आज अधिकांश मनुष्यों का जीवन-व्यवहार कृत्रिम है। उनका शुद्ध आत्म रूप रूढ़-धारणाओं और मिथ्या-आवरणों से अवास्तविक बनता जा रहा है। स्वयं में गहन रिक्तता और असंतोष का अनुभव होना भयंकर मानवीय दुर्बलता का संकेत है। विकृत स्वभावों और जीर्ण आदतों के कारण मानवमन और स्नायु मण्डल दोनों तनते जा रहे हैं जिसके कारण जीवन पर नीरसता का भयंकर आतंक छा रहा है। इन विकृत स्वभावों और जीर्ण आदतों के परिवर्तन के लिए आवश्यक है कि अपने लिये कुछ विशिष्ट भावना-संकल्प चुनें। कुछ चुने हुए भावना-सूत्र नीचे दिये जाते हैं—

1 मुझे सरस जीवन जीना है।

2 मुझे शान्त और सहिष्णु बनना है।

3 क्षमा मेरा आत्म धर्म है।

4 मेरा मानसिक विकास हो रहा है।

5 मेरे में संयम भावना बढ़/बढ़ रही है।

6 मेरा आवेग शमन घट रहा है।

7 मैं आनंद घन बनना हूँ।

अपनी स्थिति के अनुसार विभिन्न प्रकार के सूत्र बनाये जा सकते हैं किन्तु सफलता का स्वर्ण-सूत्र एक ही है कि हम भावना को कितनी बार तन्मय होकर दोहराते हैं। दो चार बार उलट-पलट करने मात्र से संस्कार नहीं बनते हैं अतः रत्नाकर की तरह श्वास प्रश्वास पर उस सूत्र की पूरी पुनराई (आवृत्ति) की जानी चाहिए।

पूरक आदि तीनों क्रियाओं के साथ सकल्प और ध्यान करने की विधि इस प्रकार है —

संकल्प—पूरक मे किसी शुभ-संकल्प का ग्रहण होता है। जैसे—

1. मै ज्ञानमय हूँ।
2 मै अनन्त शक्तियो का केन्द्र हू।
3. मै पूर्ण पवित्र हू।
4 मै दृश्य जगत से भिन्न आत्मद्रष्टा हूँ।
5. मुझे शान्ति प्रिय है, आदि।

कुम्भक मे क्षमा आदि किसी आत्म-भाव मे स्थिर होना चाहिये, अथवा नाभिकमल, मनश्चक्र और नासाग्र पर मन को केन्द्रित किया जाना चाहिए।

रेचक मे, मै शारीरिक और मानसिक-विपमता और विकारों को छोड़ रहा हूँ, यह अथवा ऐसी ही कोई अन्य विसर्जन-प्रधान भावना करें।

यदि यह क्रम अटपटा लगे तो तीनों (पूरक आदि मे) मे इष्ट-जाप, स्मरण और इष्ट के सान्निध्य की साक्षात् अनुभूति का प्रयास करना चाहिए।

पूरक मे, 'सो, ओ' और 'अर्' की अन्तर्ध्वनि होती है।

कुम्भक मे, मन्त्राक्षरो की किसी एक केन्द्र मे (अवयव विशेष पर) धारणा की जाती है।

रेचक मे, 'ऽहम्, '''म्' और 'हम्' का जाप होता है।

पूर्वोक्त मत्रो का पूर्ण रूप 'सोऽहम्' 'ओम्' और 'अहम्' है।

मैत्री आदि चारो भावनाओ का पूरा समय तीन-तीन महिनो का है। एक वर्ष मे यह क्रम पूरा होता है। प्राचीन दिगम्बर-ग्रन्थो मे (महा-पुराण आदि) बाहुबलि की योग-निर्वाण-क्रिया (ध्यान के पूर्व की जाने वाली साधना) के प्रकरण मे लिखा है—"सबसे पहले उन्होने दश-धर्म-भावनाओ अभ्यास प्रारम्भ किया। मैत्री भावना का तीसरा महिना चल रहा था। अब सूक्ष्म अह छुप नही सका। मैत्री की मन्दाकिनी के प्रवाह मे अह बह गया।" इससे जाना जाता है कि भावनाओ का विकास निम्न क्रम से हुआ है:—

1 सव प्रथम वारह भावनाए।

2 दश धम भावनाए।

3 मैत्री आदि चार भावनाए।

इन भावनाओ के बाद साधक को ध्यान की योग्यता प्राप्त होता है। फिर वह आज्ञा विचय, अपाय विचय विपाक विचय और लोकाकृति की धारणा (धम ध्यान) करता है। आज हम उसी क्रम को पुन विकास में लाना है।

भावना प्राणायाम कब, कहा और कसे ?

हर साधना क्रम का प्रारम्भ एकान्त, स्वच्छ वातावरण और प्रसन्न मन से होना चाहिये। व्याकुलता और उतावल भाव से गति भग होना है, अत हमें धय-पूवक प्रगति करना है।

प्राणायाम कब करें ?

इसके प्रत्युत्तर म योगाचार्यों ने शरद और वसन्त ऋतु को प्रारम्भिक दृष्टि से पूण अनुकूल कहा है। इन दोनों ऋतुओ में कफ शान्त रहता है। कफ की अधिकता और उसके प्रकोप से मन उदास और शरीर आलस्य से भर जाता है। वसन्त ऋतु म कफ कुपित होकर स्वत बाहर निकल जाता है। शरद ऋतु में पित्त का प्रकोप होता है जिसमें कफ धीरे धीरे जलकर भस्म होने लगता है। अत ये दोनों ऋतुएं अत्यन्त अनुकूल हैं। इन ऋतुओ में क्रम को अधिक बढ़ाया जा सकता है।

प्रतिदिन का क्रम —

समवृत्ति-प्राणायाम मानसिक-प्रफुल्लता के लिए प्रतिदिन चार बार तक किया जा सकता है। इसम जो बाह्य-कुम्भक सहित केवल दो बार। पर प्राणायाम गाहस्थ्य जीवन (व्यस्त जीवन) में प्रतिदिन दो बार करना ही लाभप्रद है।

विभिन्न प्रकार के प्राणायामों का दैनिकक्रम म इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है —

समवृत्ति प्राणायाम—(1) प्रात ध्यान से पूव (2) मध्याह्न के बाद (3) साय भोजन के पूव (4) रात्रि म सोने के पूव (भोजन के चार घट बाद)।

पूर्ण प्राणायाम:—

(1) आसनों के वाद (2) ध्यान से पूर्व (प्रातः और रात्रि को) जो आसनो को प्रात. जल्दी कर लेते है उन्हे प्राणायाम करने के वाद ही ध्यान करना चाहिये, किन्तु यह विशेप ध्यान देने की वात है कि आसनो के वाद शरीर मे तनाव नही रहना चाहिए। तत्काल कायोत्सर्ग का प्रयोग करके मन को तल्लीन करना चाहिए। यह क्रम प्रारम्भिक साधक के लिए है। प्रगतिशील साधक अपने पूर्व अनुभवो से अपने मार्ग को प्रशस्त करता रहे।

प्राणायाम कहाँ करें ?

प्राणायाम की सिद्धि के लिए चार चीजों पर वल दिया गया है—स्थान, मिताहार, समय और नाडी-शोधन। इन चारो में स्थान को प्राथमिकता दी गयी है। स्थान के विपय में सामान्य नियम ये है:—

1–वायु-मण्डल अशान्त, गन्दा और कोलाहलपूर्ण नही होना चाहिए।

2–जमीन खुली (नगी) नही हो।

3–स्थान गाँव से न ज्यादा दूर हो न विल्कुल वीच मे ही हो।

4–शुद्ध वायु पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हो।

प्राणायाम कैसे हो ?

सांय और प्रात काल—किसी एक ध्यानासन में वैठकर रीढ़ और गर्दन को स्थिर और सीधा रखा जाए। आंखे कोमलता से वन्द हों, पलके झपके नही। सवसे पहले चार-पांच श्वास लम्वे, गहरे और धीमे लिये जाये तथा ऐसे ही वाहर छोडे दिए जाये, कुछ क्षणो तक श्वास के साथ मन को चलाने का सहज अभ्यास करे। जव श्वास सूक्ष्म और सहज चलता हुआ प्रतीत होने लगे तव पूरक मे किसी एक भावना-सूत्र को प्रारम्भ कर दिया जाये। इस प्रकार रेचक तक उसे धीरे-धीरे चलाकर पुन. उसी सूत्र को पूरक मे श्वास के साथ वांव दिया जाता है। निकलते श्वास मे भावना न करें। समय प्रारम्भ मे 15 मिनट पर्याप्त है। यदि क्रम विकासोन्मुख है तो प्रतिपक्ष दो-दो मिनट तीन मास तक वढाया जा सकता है।

———

दीर्घ-श्वास और कायोत्सर्ग

श्वासोच्छ्वास-शुद्धि के सबसे सरल उपाय—दीर्घश्वास और कायोत्सर्ग हैं। श्वास के प्रति सतत जागरूक रहने से कर्मेन्द्रियाँ बाह्य जगत से सम्पर्क तोड़ना सीख लेती हैं। इससे शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के स्वास्थ्य का लाभ होता है। रेचक व पूरक लम्बे श्वास का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। वायु-कोष्ठों को पूर्णतया श्वास से भरे बिना धमनियों में स्फूर्ति और विषाणुओं को बाहर फेंकने के सामर्थ्य की कल्पना नहीं की जा सकती। साधक के लिए दीर्घ श्वास का सतत अभ्यास सहजता *(भावक्रिया) का प्रारम्भ है। कायोत्सर्ग से श्वास गति शिथिल होती है।* शिथिलता से स्वस्थता और समता फलित होती है। इस क्रम से दीर्घ श्वास का अभ्यास सहज होता है, प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती है।

पूर्ण विधि के लिए कायोत्सर्ग प्रकरण देखें।

5

भाषा शुद्धि

जप और मौन

जप का महत्व

शब्दों का शरीर पर प्रभाव

जप कब कहाँ और कैसे करें ?

मौन

व्रतमौन करने की विधि

जप और मौन

श्वासोच्छवास-शुद्धि के बाद क्रमश भाषा-शुद्धि आवश्यक है। भाषा-शुद्धि के दो उपाय हैं—जप और मौन।

1-प्रलम्ब नादाभ्यासेन वाक् शुद्धि (मनो० प्र-1 सू-22)

2- 'वाचा संवरण मौन (मनो० प्र-3-सू-122

1-कुछ चुने हुए अक्षरों (मन्त्रों) की लम्बी ध्वनि से वाणी का शोधन होता है।

कठोर अक्षरों की पुन पुन लम्बी ध्वनि से वाणी कर्कश और अप्रिय बन जाती है, अत कठोर अक्षरों का नाद वर्जित है।

2-मौन से वाणी का संवरण अर्थात् वाक् शक्ति का मानसिक शक्तियों में रूपान्तरण होता है।

शब्दों का शरीर पर प्रभाव

अक्षर जड है। उनमे प्रभावक-शक्ति मानव-स्पर्श से आती है। मन्त्र विशिष्ठ प्रकार के प्रभावक अक्षरों का संयोजन है। आज अनेक शोध-संस्थानो मे यन्त्रों के द्वारा इसका परीक्षण किया जा रहा है कि किस शब्द-ध्वनि का किस अवयव पर, कितने समय के पश्चात्, क्या असर होता है। अभी-अभी ओकल्ट रिसर्च के प्रिंसिपल श्री करमरकर ने प्रयोग करके बताया कि अक्षरो मे रोग-निवारण, कामना-पूर्ति और विघ्न-हरण की महान्-शक्ति विद्यमान है। उन्होने कुछ प्रयोग भी किए है—

1–'र' के एक हजार बार सानुनासिक लम्बे उच्चारण से शरीर मे एक डिग्री उष्णता बढ़ती है।

2–'स' का चन्द्रविन्दु सहित हजार बार उच्चारण करने से लीवर मे ऐसा संघर्ष उत्पन्न होता है जिससे बढ़ा हुआ लीवर कुछ ही दिनो मे ठीक हो जाता है।

3–'ख' के एक हजार बार लम्बे उच्चारण से शरीर मे इतनी उष्णता बढ़ती है कि सर्दी का बुखार भी मिट सकता है।

4–'ओ' के साथ 'म्', 'ह' के साथ 'री,' 'श' के साथ 'री' इन अक्षरो के लगातार हजार बार नाद करने से वात-जन्य हिस्टीरिया जैसी भयंकर बीमारियां धीरे-धीरे शान्त होने लगती है।

ये कुछ प्रयोग हैं। वस्तुत. शब्दो से मनुष्य के मनोविज्ञान मे सबसे अधिक और सबसे शीघ्र परिवर्तन और परिवर्धन आते है।

शब्द-परिवर्तन के कारणो में भाव-साहचर्य प्रमुख है। एक शब्द के बार-बार उच्चारण (जाप) मे हमारी चेतना नई आस्थाओ का निर्माण करती है। इसलिए उन आदर्श आत्माओ का ही जप किया जाता है

जिनके प्रति हमारी श्रद्धा और समर्पण भाव है। जप शब्दोच्चारण मात्र नहीं, किन्तु वृत्तियों की स्थापत्यता है। इसी तन्मय भाव में जप शरीरगत सूक्ष्म शिराओ, कोषो तथा रक्ताणुओ म विद्युत प्रवाह छोडता है। प्राचीन युग में शोध-संस्थान नही थे, किन्तु उस युग के सहस्रो व्यक्ति शोध-केन्द्र थे। उनकी वैज्ञानिकता का प्रमाण उनका सामर्थ्यशील वक्तव्य ही था। उन्होंने जिन बीजाक्षरों (अक्षर संयोग विशेष) की रचना की, आज उन्हीं अक्षरों पर शब्द चिकित्सा चल रही है। एक मन्त्र आपके सामने है जिसके लगभग सारे अक्षर प्रयोग-सिद्ध हैं —

"ओम् ह्रीं श्री अर्हते नम '

प्राचीन भारतीय चिन्त-विशेषज्ञों ने जप और आलाप को दार्शनिक तथा वैज्ञानिक तत्त्व कहा है। उनकी धारणा में देव दर्शन और कामना पूर्ति का आधार नाद से प्रगट होने वाली शब्दाकृतियां ही थीं। भारतवर्ष म बहुत पहले (पूर्व काल) ही राग रागनियो के रंग रूप और आकार का पता लग चुका था। उदाहरण के लिए —

लार्ड लिटन के कमरे में एक नर्तकी मस्ती से वाजे पर राग अलाप रही थी। धीरे धीरे चारों ओर सर्पाकृतियां उभर आयीं। दूसरा आलाप हुआ, भिन्न प्रकार की आकृतियां नाचने लगी। कुछ क्षणों के बाद आलाप बन्द हुआ, आकृतियां गायब हो गयीं।

ऐसे प्रोत में दो बार परीक्षण हुए। प्रथम परीक्षण में भारतीय गायक और एक जप-योगी महात्मा थे। जिनके शरीर में पच्चीस मिनट के बाद क्रमश उष्णांक और शीतांक तीन चार डिग्री तक पहुँच गए। यह-समाधि का एक कारण यही शीतांक-वृद्धि है।

बहुत बार अपने श्रद्धेय का नाम जपते जपते उनका आकार ध्यानावस्था में सामने आकर नाचने लगता है। क्या यह हमारी श्रद्धाशील विचार-तरंगों का ही परिणमन नहीं है? जिन्होंने आज तक अपने इष्ट से साक्षात् बातें कीं, समाधान पाये, उन सब रहस्यों का आधार हमारी जपाकार (शब्दाकार) चेतना ही है।

वाह्य-जप के वाद आम्यन्तर जप की योग्यता प्राप्त होती है। जव मन और इन्द्रियां आत्मोन्मुख होने लगे तव तत्काल उच्चारण बन्द करके श्वासोच्छ्वास की गति पर या "मै विचार-शून्य, आत्मदृष्टा हूँ' ऐसा मन को वार-बार सुझाव देते हुए जपाक्षरो पर लीन होने का प्रयत्न करें।

'ओम् शान्ति' का मानसिक-जाप, श्वास का पूरक करते समय 'ओम्' और रेचक मे 'शान्ति' की धारणा करे। 'ओम्' 'अर्हं' और 'सोहम्' का पूर्वोक्त विधि के अनुसार पूरक व रेचक मे आभ्यन्तर जाप होता है।

मौन

मौन शब्द मुनि से बना है। प्रारम्भ में इसका प्रयोग मुनि के विशुद्ध आचरण, तप और संयम के लिए होता था। आचार्य यशोविजयजी ने मौन की परिभाषा में कहा है—

मन्यते यो जगत् तत्त्व समुनि—परिकीर्तितः।
सम्यक्त्व मेव तन मौन मौन–सम्यक्त्व मेव च॥ (ज्ञानसार)

भगवान महावीर ने चित्त स्थिरता के लिए मौन को सर्वोत्तम तप कहा है। आचारांग सूत्र में एक वाक्य आता है—मुणी मोणं समादाय, धुणे कम्मं सरीरगं—मुनि तप और संयम का स्वीकार करके कर्म-बन्धनों का क्षय करता है। इससे जाना जाता है कि आदिकाल में मौन शब्द मुनित्व अर्थात् मुनि के अविरुद्ध आत्म भाव के लिए प्रयुक्त होता था। धीरे धीरे भाव साहचर्य के कारण शब्दों के साथ एक गौण अर्थ और जुड़ जाता है जिसे भाषाविज्ञान अर्थादेश कहता है। कुछ समय पश्चात मुनि लोग एकान्तवास में आत्मशान्ति के लिए नहीं बोलते थे उस वाक् निरोध के लिए मौन शब्द व्यवहृत होने लगा। आज यही मौन शब्द जनसाधारण की चुप्पी के लिए प्रयुक्त होने लग गया है।

प्राचीन जैन-ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि मौन शब्द के अर्थ का अपकर्ष भी हुआ है। आज कायिक स्थिरता और मानसिक-स्थिरता के लिए मौन (ध्यान) शब्द प्रयोग में नहीं लाया जाता है जबकि तीनों के लिए मौन (ध्यान) शब्द का प्रयोग हुआ है। मन, वचन और काया के मौन का संक्षिप्त आशय इस प्रकार है—

काया का मौन—कुछ समय तक मेरा शरीर चंचल न हो (काय एजड काओंति)।

वाणी का मौन—अवक्तव्य का परिहार और वक्तव्य में विवेक होगा।
यथा, मैं अमुक प्रकार की शुद्ध भाषा बोलूंगा।

मन का मौन—कल्पना जाल से निकल कर किसी एक विषय पर मन को एकाग्र करना। साधारणतया वाणी के संवरण का नाम मौन है।

मौन के तीन भेद

1—आकार मौन 2—काष्टा मौन 3—अन्तर्मौन ।

आकार मौन—संकेत, लेखन आदि बाह्य साधनों के द्वारा भावाभिव्यक्ति करना, किन्तु मुंह से कुछ नही बोलना। यह वाक्‌निरोध का प्रथम चरण है।

काष्टा मौन—वाणी, आकार, संकेत तथा लेखन आदि के द्वारा प्रगट होने की इच्छा का विवेकपूर्वक विसर्जन करना। यहां तक इन्द्रियां प्रतिसंलीन (आत्मोन्मुख) नहीं होतीं, मन विकल्पों से भरा रहता है। क्रमिक आत्मोन्मुखता के लिए चित्तवृत्तियों का अनासक्त होना जरूरी है। आसक्तियां नित्य नए संस्कारो को जन्म देती है। जब तक मन को बाहर ले जाने वाली इन्द्रियां मौन नही होतीं तब तक अन्तर्मौन और समाधि के लिये ललचाना व्यर्थ है। आप जानते है—उर्वर खेत मे पड़ा हुआ बीज बिना प्रतीक्षा के भी समय पर अंकुरित हो जाता है। साधना उसी लहलाती जीवन-खेती का बीज है, जिसके अकुरित होने मे आत्मविश्वास की खाद, श्रम और संकल्परूप मेघ अपेक्षित है। इसके बाद साधना पल्लवित और पुष्पित होकर परिपक्व दशा मे पहुंच जाती है। यहां पहुँचने के बाद ही यह निर्णय होता है—आत्मोन्मुखता गति का साधन है और आत्मोपलब्धि उसका अन्तिम परिणाम। यह प्रज्ञा अन्तर्मौन से उत्पन्न होती है।

अन्तर्मौन—अन्तर्मौन मौन का तृतीय चरण है। यहां चेतना जागृत होने लगती है, इन्द्रियो और मन को स्थिर-क्रिया शून्य देखकर वह कुछ समय तक ठहरती भी है। यहा संकल्प-विकल्प नही होते। विचारो के बहते निर्झर को धीरे-धीरे थामा जाता है। चित्तवृत्तियों के प्रति अन्तर की जागरूकता होती है। इस अन्तर-जागरूकता (वृत्तियो की क्षीणता) का नाम ही सर्वोत्तम मौन है। आचार्य यशोविजयजी ने इसी मौन को उत्तम माना है। उन्होने कहा—वाग्‌निरोध रूप मौन को तो हम क्या, एकेन्द्रिय जीव भी निभाते है, किन्तु तीनो योगों (मन, वचन, कर्म) का विषयों मे प्रवृत्त न होना अनासक्त योग है। इसी योग का दूसरा नाम अन्तर्मौन है। जैसे—

सुलभ वागनुच्चार मौन मेकेन्द्रियेष्वपि।
पुद्गलेष्व प्रवृत्तिस्तु योगाना मौन मुत्तमम्॥ (ज्ञानसार)

आत्मा कोलाहल में व्यक्त नहीं होती। उसके लिये एकान्त, शान्ति और समाधि चाहिये। कभी कभी अन्तर्मौन का आनन्द व्यस्तता और जन संकुल वातावरण में अधिक आता है। सब बोलें और एक मौन रहे, या एक बोले और सब मौन रहें, इस स्थिति में महान साधना-भेद और तितिक्षा भेद है। जब मन किसी विषय के लिये उत्सुक और उतावला होता है तब वृत्तियां और अधिक बल पकड़ लेती हैं। उन्हें कम करने के लिए सर्व प्रथम प्रतिदिन आने वाले संकल्पों की संख्या, लम्बाई और उनकी गहराई पर ध्यान देना चाहिये। संकल्प और विकल्प मन से पैदा होते हैं, मन चित्तवृत्तियों से और चित्तवृत्तियां विषयासक्ति से जन्म लेती हैं। वस्तुतः चित्तवृत्तियों का अभाव ही अन्तर्मौन है।

अन्तर्मौन करने की विधि

कभी कभी हम शारीरिक और मानसिक थकान विशेष रूप से अनुभव होती है तब मन कुछ क्षणों तक स्वतः ठहरना चाहता है। यदि प्रबल इच्छापूर्वक मन को वहां थाम लिया जाए तो इन्द्रियां धीरे धीरे स्वयं मौन ग्रहण कर लेंगी। इस स्थिति को बहुत जल्दी आगे बढ़ाया जा सकता है। यह मौन जब चाहें तब बार बार किया जा सकता है।

कायोत्सर्ग (शवासन) में सारे शरीर को खिंचाकर एक बार कड़ा करके तत्काल ढीला छोड़ दिया जाता है। इस तनाव-विसर्जन की पद्धति में स्वतः-निर्देशन की विधि सर्वोत्तम है। क्रमशः शरीर, श्वास, स्वर और मन चारों को तनाव रहित करने का प्रयास किया जाता है। प्रारम्भिक विकल्प-शून्यता के लिए पटु इन्द्रियां (आंख और कान) का बन्द होना आवश्यक है। कर्ण छिद्रों को किसी कर्ण-गुप्त आदि साधन से बन्द करने से व्यग्रता कम होती है और दृश्यजगत् के सुनहरे स्वप्न क्षण भर के लिए अन्तरपट पर आ जाते हैं। इस मानसिक तनाव विसर्जन क्रम में "अन्ना-काय वोसिरामि"—मैं कुछ समय तक अपने शरीर की सम्भाल को छोड़ रहा हूँ ऐसा संकल्प करके मन को एक शब्द के साथ स्थायी कर दें और अपने प्रति जागरूक हो जाए। यही जागरूकता सहज अन्तर्मौन की प्रारम्भ भूमिका है।

6

मनः शुद्धि

मानसिक शुद्धि और संकल्प
ध्यान क्या है ?
ध्यान और आसन
ध्यान और मौन
ध्यान और त्राटक
ध्यान और कायोत्सर्ग
ध्यान और धारणा
ध्यान की पृष्ठभूमि
मन की निर्विकल्प अवस्था
भीतर कैसे जाएं ?

•

शब्दों मे—"पूर्ण संकल्प का एक शब्द भी वहुत है, संकल्प-हीन पूरा जीवन भी कुछ नही है।" कहा जाता है—ससार की उपलब्धियां समय मे और सत्य की उपलब्धियां संकल्प मे होती है। संकल्प विचार-क्रान्ति मात्र नहीं, उपलब्धि है। सत्य की फसल इसी वीर्यवान वीज की परिणति है; अतः यह विश्वास योग्य है कि सफलता की प्रथम शर्त संकल्प-साधना है।

संकल्प कब करे, क्यों करें ?

साधारणतया सोते समय सकल्प किए जाते है । जैसे—शयन काले सत्संकल्पकरणं, (मनोनुशासनं, प्रकरण 6 सू० 5)—ऊंचे संकल्प सोते समय करने चाहिए । क्योंकि अवचेतनमन की पकड-शक्ति जितनी तीव्र प्रसुप्ति-काल मे होती है, उतनी चेतन-मन के व्यापार-काल मे नही होती।

सकल्प पथ के अनुरूप होते है। यदि किसी का लक्ष्य विद्यार्जन, पद-प्राप्ति और धनीमानी वनने का होता है तो वह वैसे ही संकल्प करता है। किन्तु साधक के लिए वही विद्या, वही पद और वही वैभव है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार संकल्प स्वीकारात्मक होने चाहिएं, निषेधात्मक नही। क्योंकि विधि का हमारे दिल और दिमाग पर जो असर होता है वह निषेध (नैगेटिव) का नही होता, यह एक दृष्टिकोण है। वस्तुतः संकल्प एक कर्म है। जव तक उससे असत् के अस्वीकार का पक्ष वलवान नहीं हो जाता तब तक संकल्प करते रहना चाहिये।

कुछ करणीय संकल्प ये है—1. मै ज्योतिर्मय हूं।

2. मै आनन्दमय हू।
3. मै निर्विकार हूँ।
4. मै वीर्यवान हूँ।
5. मै पवित्र हूं।
6. मै स्वस्थ परमात्मरूप हूँ।

हर संकल्प के साथ जागरूकवृत्ति और सतत् अभ्यास चाहिये। जागरूकता और नियमितता के बिना संकल्प फलते नही, अतः रात्रि के प्रत्येक संकल्प प्रातः निद्रा-त्याग के अनन्तर दोहराये जाने चाहियें। सकल्प शाब्दिक नही होने चाहिये। उनके साथ हमारा जितना प्रवल तादात्म्य-भाव होगा उतनी ही शीघ्र संकल्पकार की आत्मा संकल्प मे घुल सकेगी और अनादि समय से सचित वासनाओ की परतो को जागरूक चेतना की कुदाल से कुरेद सकेगी।

ध्यान क्या है ?

आत्मा अपौद्गलिक पदार्थ है। इसे किसी स्थूल माध्यम से नहीं पाया जा सकता। मन से आत्मा के निकट जाने का जो प्रयत्न है, वह ध्यान नहीं, मात्र मानसिक चेष्टा है। ध्यान स्वयं में क्रिया नहीं, किन्तु चेतना की सहज स्थिति एवं परिणति है।

"स एव घटा पूर्व ध्यानस्थ था।" —इसका अर्थ यह हुआ कि पन्ना पलटने के बाद कायिक चेष्टा होती है। यदि ध्यान को हम तोड़ सकते हैं, और जब चाहें तब लगा सकते हैं तो वह ध्यान नहीं केवल हमारी अतिन्द्रिय अनुभूति है जिसे हम ध्यान मानते हैं। ध्यान वर्तमान में अपने प्रति सावधानता है। हम कल जागृत थे आज सो रहे हैं तो यथार्थ आज के इस प्रमाद का जिम्मेदार कौन है? यदि हम ही हैं तो इतना बड़ा प्रमाद आत्म निरीक्षण के क्षणों में कैसे जी सका? यदि जीता है तो हम ऐन्द्रियिक अथवा अतीन्द्रिय, अनुभूतियों के आसपास ही हैं।

हां, तो हमने जाना ध्यान कोई क्रिया नहीं जिसकी हमें तैयारी करनी पड़े। मन से परिचय प्राप्त करने के लिए मन का निरीक्षण करना आवश्यक है। मन को जितनी सूक्ष्मता से देखने का प्रयत्न करेंगे, वह उतनी ही तीव्रता से सूक्ष्म होता हुआ नजर आयेगा। मन के निरीक्षण से हमारा तात्पर्य है, अन्तर के प्रति सावधान होना। जब तक हमारे भीतर विचारों और विकारों का जमाव रहेगा, तब तक निरीक्षण का क्रम कभी टूटेगा और कभी जुड़ेगा। जब निरीक्षण के लिए भीतर कुछ नहीं रहेगा तब एकान्तशून्यता, सावधानता और जागरूकता स्वतः ही बन जाएगी।

मन का तटस्थ भाव से निरीक्षण करने से मन की हलचलें समाप्त होती हैं जिसे हम मन की निर्विचार अवस्था कहते हैं। वहां पहुंचने के बाद मन का परिचित मार्ग छूट जाता है। जिन विचारों की दुनिया में

हम आज तक रहे अब वह गायब होती हुई सी प्रतीत होती है। अपरिचित मार्ग पर बढ़ने के लिए नया साहस और नया सकल्प चाहिये।

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'

इसका फलित है कि ध्यान-कोष्टक मे प्रवेश करने के लिये महान् ऊर्जा-सम्पन्न व्यक्तित्व चाहिये। पश्चिमी-रहस्यवादी लोगो के अनुसार निर्विचार दशा के आते ही आदमी अपने चारो और अंधेरा ही अंधेरा देखता है। बहुत सारे बलहीन व्यक्तित्व यहां से वापिस मुड जाते हैं। इस अंधेरी रजनी को एक बार पार करलेने वाला सदा महान् आलोक और आनन्द का उपभोग करता है।

कुछ लोग निर्विचार स्थिति तक पहुंचते पहुंचते सुमधुर ध्वनियां, दिव्य आकृतिया और भीनी-मधुर सुवास की अनुभूति करते है और उसे ध्यान की उच्चतम दशा समझ लेते है। यथार्थत., ये सब मानसिक अतीन्द्रिय अनुभूतियां है, मन की क्रियाएं है। इनमे उलझने वाला गन्तव्य को नही पाता। इस प्रकार क्रमिक गतिशीलता के लिये दिन मे एक दो बार, घटाभर शान्तचित्त होकर बैठना जरूरी है। यदि हम विधिवत् तनाव-विसर्जन करना भी सीख जाएं तो सन्तुलित शरीर और सन्तुलित मानस हमे ध्यान के दरवाजे पर अवश्य पहुचा देगा।

ध्यान और आसन

साधना के विभिन्न क्रम हैं। उनमें से किसी एक को एकान्त निर्णायकता देना अनुभवहीनता है। जैन-साधना ध्यान से प्राणवती रही है यह कथन जितना सत्य है उतना ही सत्य यह है कि जैन साधना जीवन के समग्र चरणों को छूने वाली है। इस समग्रता के पर्यावरण में आसन, अनशन, कायोत्सर्ग, मौन और ध्यान फलित होते हैं।

योगी के लिए प्रकृति पर विजय पाना अत्यन्त आवश्यक होता है। हमने जाना कि ध्यानी-सन्त को भूख नहीं सताती, जो कि शरीर की माँग है। इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण यह है कि जब प्राण वायु अधिक क्षीण हो जाती है तो बुभुक्षा आदि आवश्यकताएं विशेष प्रबल हो जाती हैं। जैसा कि नारायण स्वामी ने लिखा है— मौन रहने से एकासन में बैठने से और गुफाओं में बसने से प्राण-तत्त्व कम क्षीण होता है। यही कारण है कि योगी लोग वर्षों तक बिना मुरझाए निराहार रहते हैं।

यद्यपि चैतन्य-जागृति के लिए आसन—एकान्त अपेक्षित नहीं है किन्तु स्थिति विजय, बुभुक्षा-जय और आवश्यकताओं की अल्पता के लिए ऐसा करना नितान्त अपेक्षित है। आसन विजय से शारीरिक व्याकुलताओं का स्वतः समाधान होता है। बहुत सारे ध्यानी सन्त सर्दी गर्मी, आक्रोश, प्रहार, तीव्र यातनाएं और विपुल जीव जन्तुओं से भी आक्रान्त नहीं होते, क्या यह रोमहर्षक नहीं है? उत्तम-संहननों के अभाव में ऐसा नहीं हो सकता, यह जितना सत्य है उतना ही सत्य यह है कि आसनों के द्वारा संहननों का विकास होता है। शरीर की क्षमताएं बढ़ती हैं। प्रगति में सोपान अपेक्षित होते हैं किन्तु सबके लिए नहीं। अधिकांश व्यक्तियों के लिए मनोबल के हेतु जुटाने होते हैं। सम्भवतः इसी आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द ने आहार विजय, निद्रा विजय और आसन-अभ्यास पर बल देते हुए कहा—इसी सहज-अभ्यस्त भूमिका पर ध्यान का अंकुर पल्लवित होता है।

भयंकर शीत, ताप आदि कष्टकर स्थितियों मे भी अपने आपको संकुचित एवं विकसित करके अपने मनोभावो को प्रगट नही करते थे। प्रतिसंलीनता (इन्द्रिय-मौन) के विना वृत्तियो का परिमार्जन और आवेगो का मार्गान्तरीकरण होना कठिन है। मार्गान्तरीकरण के विना मनोलय नही होता। मनोलय के विना अन्तर्मुखता और उसके अभाव मे चित्तवृत्ति-क्षय नही होता। जो वृत्तियां इस क्रम से क्षीण हो जाती है उनका दबाव चेतना पर नही होता। जहां चेतना पर दबाव होता है वहां वृत्तियां दमित हैं, संयमित नही है।

मौन अन्तर-जिज्ञासाओं का अव्यक्त समाधान और वृत्तियो का सहज नियमन है।

ध्यान और त्राटक

त्राटक ध्यान और धारणा के बीच की कड़ी है। धारणा का प्रारूप एकाग्र-सन्निवेश है और ध्यान का प्रारूप निर्विचार दशा। त्राटक का राजयोग की साधना में अनिवार्य विधान नहीं है परन्तु तन्त्रयोग ने इसे प्रमुखता दी है। भगवान महावीर ध्यान-योगी थे। उन्होंने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के त्राटक का चित्त-स्थैर्य के लिए प्रयोग किया था। नासाग्र ध्यान दिशावलोकन और खुले नयन घंटों तक भीत पर मन और दृष्टि को थामे रहना महावीर की ध्यान-साधना के अन्तर्गत था।

तन्त्र-साधना-पद्धति के अनुसार त्राटक विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। सचमुच इसी उद्देश्य भिन्नता ने त्राटक के अनेक प्रकारों को जन्म दिया है।

त्राटक के प्रकार और साधना विधि

पतञ्जलि ने योग प्रदीप में त्राटक के मुख्य तीन भेद बताए हैं—

1 आंतर त्राटक 2 मध्य त्राटक और 3 बाह्य त्राटक।

आंतर-त्राटक

नेत्र बन्द करके भ्रू-मध्य, नासाग्र, नाभि तथा हृदय आदि स्थानों पर चक्षुवृत्ति की भावना करके देखते रहना आन्तर-त्राटक है।

मध्य त्राटक

धातु अथवा पत्थर निर्मित वस्तु काली स्याही के धब्बे आदि पर खुले नेत्रों से टकटकी लगाकर देखते रहना मध्य त्राटक है।

बाह्य त्राटक

दीपक, चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, प्रातः उगते हुए सूर्य अथवा अन्य दूरवर्ती दृश्यों पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया को बाह्य त्राटक कहते हैं।

विधि—किसी एक आरामदायक आसन मे बैठकर छोटी चिकनी व अल्प-चमकदार-वस्तु पर दृष्टि टिकाकर लगातार कुछ समय तक टकटकी लगाये देखते रहना त्राटक है। इससे नेत्र ज्योति और 'विल-पावर' बढती है। मन शान्त और स्थिर होता है। त्राटक करने वाले लोगो का यह अनुभव है कि इससे स्वर के रंग, आकार और गति का साक्षात् दर्शन होता है, तथा आज्ञाचक्र इससे बहुत प्रभावित होता है। लम्बे समय तक त्राटक का अभ्यास कर लेने के बाद यदि मन कभी चंचल हो तो त्राटक करते ही शान्त हो जाता है। यह चंचल मन की प्रायोगिक चिकित्सा है। स्वामी आनन्द तीर्थ ने कहा, त्राटक के अभ्यास से नेत्र और मस्तिष्क मे गर्मी बढती है। अतः इस क्रिया के करने वालो के लिये जल-नेति तथा त्रिफला व गुलाब जल के पानी से नेत्रो को धोलेना आवश्यक है। फिर धीरे धीरे शान्ति-पूर्वक दृष्टि को दाएं-बाएं, ऊपर-नीचे घुमाले ताकि तनाव निकल जाए। पन्द्रह मिनट से अधिक त्राटक करने वालो का भोजन नियमतः उत्तेजक नहीं होना चाहिये। यदि ऐसा हुआ तो ज्योति और सहन-शक्ति क्षीण हो जायेंगी।

त्राटक के क्रम के विषय मे अनेक मान्यताएं है। सामान्यतया बाह्य त्राटक काले बिन्दु पर, जल और वृक्ष पर, दीपक और तारे पर, चन्द्र और सूर्य पर तथा आभ्यन्तर त्राटक क्रमश नासाग्र और भृकुटि पर करने का संकेत मिलता है। हठयोग का प्रत्येक साधन निर्देश सापेक्ष है। बिना मार्ग-दर्शन के त्राटक की साधना करना खतरे को मोल लेना है।

आधुनिक प्रयोग

वर्तमान चिकित्सालयो मे रोगी को मूच्छित करने के लिये क्लॉरोफार्म जैसी मूर्च्छाकारक औषधियो के स्थान पर त्राटक का उपयोग किया जा रहा है। वशीकरण शक्ति सम्प्रेषण जैसी योगिक क्रियाओ के मूल मे इसी का योग है।

ध्यान-योगी के लिए त्राटक का स्वतंत्र महत्त्व नही है, क्योंकि ध्यान से पलकें स्वतः जडवत् स्थिर हो जाती है और मस्तिष्कगत तनावो के विसर्जित होने पर इन्द्रियो की बहिर्गामिनी प्रवृत्ति स्वतः निरुद्ध हो जाती है। अत. यह अनुभव करके देखे कि निस्पंद अवस्था श्वास और मन की चपलता को किस प्रकार नियन्त्रित करती है। प्रतिदिन माला जपते समय तथा चित्तवृत्तियो की विक्षिप्त स्थिति मे भी इसका प्रयोग करके देखे।

———

पूर्वोक्त धारधाएं सत्य के वहुत निकट है। दोनों मे से किसी भी एक को टाला नही जा सकता, किन्तु प्रमुखता और अप्रमुखता दी जा सकती है। पहली धारणा के अनुसार कायोत्सर्ग प्रायोगिक है। वह करने का विषय है। यद्यपि आसन स्थिर करके बैठना कायोत्सर्ग का वाह्यरूप है, परन्तु भावना-वल से कायिक-स्थूल-विसर्जन सूक्ष्म-विसर्जन की भूमिका तैयार करता है। कायोत्सर्ग और ध्यान दोनो मे कौन कव घटित होता है, यह समझना उसके लिए भी कठिन है जो ध्यान करता है। यह मात्र आन्तरिक अनुभूति का विषय है। कायोत्सर्ग की कुछ विधियां स्थूल है अतः उसके अभ्यास का लक्ष्य वनाना वहुत आसान है जवकि ध्यान स्वतः-प्राप्त स्थिति है।

दूसरी धारणा मूल के अधिक निकट इसलिए है कि ध्यान के क्षणों मे कायोत्सर्ग अवश्य फलता है। विना कायोत्सर्ग ध्यान नही होता और ध्यान से कायोत्सर्ग निकलता है। निष्कर्ष यह हुआ कि ध्यान और कायोत्सर्ग मे परस्पर व्याप्ति (अन्वय) सम्वन्ध है।

कुछ प्रयोग

पहला प्रयोग—ध्यान के पूर्व कायोत्सर्ग कितना किया जाए, यह एक प्रश्न है। इस प्रश्न का यथार्थ समाधान तो यह है कि जब तक निर्विचार-अवस्था उत्पन्न न हो जाए तव तक शरीर अथवा शरीराश्रित-ममत्व के विसर्जित होने मे कौनसी वृत्ति-विशेष वाधक है, यह देखे। यदि सुदृढ देह-ममत्व शरीर से ऊपर उठकर विचरने से रोकता है तो आप अनित्य और अशौच भावना के सहारे मन को देह-कारा से वाहर निकालने का प्रयत्न करे। चेतना को सुझावो से इस प्रकार भरे कि पूर्व-वासना के स्पर्श के लिए अवकाश ही न रहे। किसी एक संकल्प को वार-वार दोहराने से चेतना संकल्पाकार वनती है। क्रमशः भीतर के प्रति सावधानता और तटस्थता उत्पन्न होती है। आधुनिक विज्ञान निर्विचार वनने के लिए सामान्यतया 40 मिनिट तक शिथिलीकरण करने के लिए कहता है। यदि मनो-चापल्य के कारण शरीर शिथिल नही हो रहा हो तो कुछ क्षणों के लिए नभो-मुद्रा तथा शाम्भवी-मुद्रा का प्रयोग करें। महावीर शून्य-दिशाओं की रिक्तता का ध्यान करते करते स्वयं शून्य-निर्विचार हो जाते थे। हमारे ~ उन प्रयोगो का क्या प्रभाव होता है, यह देखें।

दूसरा प्रयोग—हमारे शरीर में कुछ ऐसे अवयव तथा नाभि-केन्द्र हैं जिन पर एकाग्र होने से सारा शरीर स्वतः शिथिल हो जाता है। पर के अ गूठे व हाथों की अ गुलियाँ जहाँ से प्राण शक्ति प्राप्त होती है वहाँ पर एकाग्र होने से समग्र नस नाड़ियाँ शान्त एवं स्थिर हो जाती हैं।

विधि--किसी एक आसन में बैठकर दोनों हथेलियों को जमीन पर उल्टा रखें। अब प्रत्येक अ गुली पर होने वाली रक्ताभिसरण क्रिया को देखें। क्रमशः दोनों हाथों पर दृष्टि घुमाएं। इस प्रकार बीस मिनट तक देखने के बाद आप चेतन मन की दीवार को चीरकर अवचेतन में प्रविष्ट हो जायेंगे। इस समय जो भी विचार आपके मन में आएंगे वे यथार्थ होंगे। यह विकारों के निर्गमन का क्रम है। महावीर के शब्दों में इसी का नाम निर्जरा है। कायोत्सर्ग विकारों की चिर-संचित जड़ों को हिलाना है। यदि लम्बे समय तक हम इस मुद्रा में रहेंगे तो श्वास और मन की गति सूक्ष्म होती हुयी प्रतीत होगी।

तीसरा प्रयोग—श्वास प्रश्वास की गति का जैसा शरीर रचना के साथ सम्बन्ध है वैसा ही मानस रचना के साथ सम्बन्ध है। यदि हम ध्यान के पूर्व श्वासोच्छवास का व्युत्सर्ग करते हैं तो उसका आधार—शरीर स्वयं विसर्जित हो जाता है। तत्वतः, श्वासोच्छ्वास का शैथिल्य ही कायोत्सर्ग का प्रारम्भ है। अतः लम्बे समय तक क्रमशः बाह्य और आभ्यन्तर प्राण शक्ति पर एकाग्र होने का प्रयत्न करें। मानसिक स्थिरता के लिए गर्दन से ऊपर के सारे अवयवों (कान जीभ या ओष्ठ आँख, मस्तक इत्यादि) की शिथिलता और श्वास की सूक्ष्मता अनिवार्य है। बहुत बार तो सारा शरीर भाग अपने आप शान्त और विस्मृत सा हो जाता है अतः ऊपर के प्रति अधिक सजग रहें।

चौथा प्रयोग—मन को ध्यानस्थ करने का सर्वोत्तम प्रकार है बिना किसी आलम्बन के बैठ जाना। मुझे कायोत्सर्ग और ध्यान करना है इस मानसिक कल्पना को भी भुलादें। ध्यान किया नहीं जाता, स्वतः निष्पन्न होता है, अतः उसके लिए किसी प्रकार का उपक्रम अथवा मनःस्थिति तैयार कर बैठने की चेष्टा न करें। एक महात्मा के अनुसार—तन हल्का और मन हल्का तो ध्यान हल्का सहज दशा ही ध्यान है।

ध्यान और धारणा

जैसे रात्रि के पूर्व दिन होता है, अंकुर के पूर्व बीज होता है और वसंत के पूर्व पतझर होता है, वैसे ही ध्यान के पूर्व धारणा होती है। अंग्रेजी मे दो शब्द आते है—'कन्सन्ट्रेशन' और 'मेडीटेशन', जो क्रमश: धारणा (एकाग्रता) और ध्यान के ही पर्याय है। धारणा एक के प्रति एकाग्र होना है जबकि ध्यान समग्र चेतना-व्यापार के प्रति जागरण है। जब तक ध्येय और ध्यान करने वाले की भिन्नता बनी रहती है तब तक धारणा कार्य करती है, ध्यान नही।

धारणा ध्यान का आलम्बन है। महर्षि पतजलि ने समस्त ध्यान के आलम्बनो को धारणा कहा है। जैन आगमो मे धारणा के स्थान पर "एकाग्र मन सन्निवेश" शब्द आता है जिसका अर्थ है, किसी एक आलम्बन पर मन को बाँधना, स्थिर करना। योग-दर्शन के क्रमानुसार धारणा के पूर्व प्रत्याहार होना है। प्रत्याहार का अर्थ है, एक ओर आहरण करना, अर्थात् मन की बहिर्गति को रोककर (इन्द्रियो की अधीनता से मन को मुक्त कर) उसे भीतर की ओर खीचना। मन को एक साथ सयत करना बहुत कठिन होता है, अत. कापायिक-प्रवृत्तियो की क्षीणता की ओर ध्यान देते हुए पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एव तदतिरिक्त किसी प्रशस्त आलम्बन पर मन को बाँधने का अभ्यास करे। कहा जाता है, जब बारह प्राणायाम तक मन किसी विषय पर पूर्णतः रुकता है, सहजता से एकाग्र होता है, तब धारणा प्रारम्भ होती है। कई योगाचार्य इस क्रिया के लिए बारह सैकिन्ड का निर्देश करते हैं। इसमे दो बाते मुख्य है—मन विषय पर कितनी गहराई (डिग्री) से एकाग्र होता है और कितने समय तक ध्यान-स्थिति मे रहता है। यहाँ समय की लम्बाई की मुख्यता नही है, मुख्यता है—गहरे अन्तर-प्रवेश की, जिसके लिए सैकिन्ड क्या, सैकिण्ड का हजारवाँ भाग भी अधिक है।

पार्थिवी धारणा
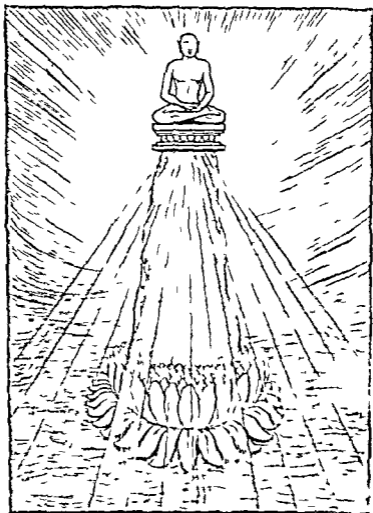
कितना संसार परिभ्रमण करना पडेगा सो तो ज्ञानी जी महाराज जा-
नें, तोभी "उस्सुत्तभासगाणं बोहिनासो अणंत संसारो" इस प्रमाणसे
ऐसी खोटी प्ररूपणा करने वालोंको सम्यक्त्वका नाश और अनन्त सं-
सारकी वृद्धि होनेका देखने मे आता है. इसलिये मोक्षाभिलाषी पुण्य-
वान् सर्व ढूंढिये सज्जनों को हमेशा मुंह बांधने रूप ऐसे मिथ्यात्वी कु-
पथ का अवश्य ही त्याग करना चाहिये।

(खास जरूरी सूचना.)

७२. शासन भक्त सर्व संवेगी साधू-साध्वी-यति-श्रीपूज्य-आ-
गेवान् सेठीये और श्रावक श्राविकादि सबको सूचना देने में आती है-
कि जैसे वह देवता सोमिल को समझाने के लिये हमेशा सोमिलके पी-
छे लगगयाथा उससे छेवटमें सोमिल को मिथ्यात्व से छुडवाकर शुद्ध
धर्ममें स्थापित करने रूप बडा उपकार करने वाला हुआथा. इसी तरह
से प्रत्येक गांवोंमें, प्रत्येक शहरोंमें, रास्तेमें, जंगल में, जहां २ आप
लोगों को मुंह बांधने वाले ढूंढिये मिलें वहां २ उन्होंके पीछे लगकर उ-
नको सूत्र पाठ व युक्ति युक्त समीक्षा के लेखोंको समझा कर; उपदेश
देकर, सोमिल की तरह हरदम मुंह बंधने रूप मिथ्यात्व को अवश्य छु-
डवाईये और जिनाज्ञानुसार यत्ना पूर्वक बोलने के लिये मुंह आगे मुंह-
पत्ति हाथमें रखने का शुद्ध जैन धर्म अंगीकार करवाने रूप बडा उप-
कार करने का लाभ लीजिये. हरदम मुंह बंधा रखने से अन्य दर्शनीय
हिन्दु-मुसलमान-ईसाई वगैरह लोग ढूंढियों को मुंहबंधे २ कहकर
हंसी करते हुए [illegible] कर्म बंधन करते हैं, जैन शासन की लघुता क-
रते हैं, और ढूंढियों का मुंह बंधना छुडवाने से उन लोगों के कर्म बन्धन
[illegible] इसका भी बडा भारी लाभ आप-
[illegible] मिथ्यात्व [illegible] की आलोचना नहीं [illegible]
[illegible] ढूंढियों को हरदम मुंह बांधने का मिथ्या-
[illegible] शुद्ध [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

कते हैं, देशकी सेवा करने वालेको देश भक्त कहते हैं, व्याख्यान देने वाले को वक्ता कहते हैं, माता-पिता-गुरु की सेवा करने वाले को माता-पिता-गुरु भक्त कहते हैं और सामायिक—प्रतिक्रमणादि धर्मकार्य करने वाले को धर्मी पुरुष कहते हैं इत्यादि २ यह सब कार्य हररोज २४ घंटे (६० घड़ी) हरदम हमेशा करने में नहीं आते, परन्तु जब उस कार्य का प्रयोजन होवे तब वह कार्य थोड़ी देरके लिये करने में आते हैं तो भी उन्होंके नाम तो कार्य के अनुसार वही कहे जाते हैं वैसेही मुंहपत्ति हाथमें रखे तो भी मुंहके आगे रखनेका प्रयोजन होने से उसको मुंहपत्ति ही कहेंगे मगर हाथपत्ति कभी नहीं कह सके. जिसपर भी ढूंढिये लोग हाथमें रखने को हाथपत्ति कहते हैं सो बड़ी भूल है।

३५. फिरभी देखिये—जैसे अंग पर ओढने के काम में आने वाले वस्त्र को चद्दर कहते हैं, उसको कंधे पर रक्खी हो, गठडी में बंधी हो, आसन पर बिछी हो, खूंटी पर धरी हो, या कारण वश धोकर सुखानेको डाली हुई हो तो भी वह चद्दरही कही जावेगी. क्योंकि उसका उपयोग ओढने के कार्य में होता है इसलिये चद्दर को कंधादि अन्य स्थानों पर रखने से कंधा पट्टा आदि अन्यनाम नहीं कहसके. वैसेही आसन व झोली और पात्र [illegible] के लिये भी समझ लेना. इसी तरहसे मुख के आगे रखने के कार्य में आने से उसको मुंहपत्ति ही कहने में आवेगी परन्तु हाथ में रखने से हाथपत्ति कभी नहीं कहसके जिसपर भी ढूंढिये लोग भोले [illegible] को भरमाने के लिये मुंहपत्ति को हाथ में रखने से हाथपत्ति [illegible] अपने मुंह पत्ती पुष्ट करने की कोशिश [illegible] मगर ऐसा झूठ कभी नहीं होसकता.

साथ थूंकभी मुखका मैल गिना जाताहै. इसलिये थूंकमें भी समुर्छिम पंचेन्द्रिय जीवोंकी उत्पत्ति अवश्यही होतीहै और सर्व अशुचि स्थानोंमें मनुष्योंके शरीरकापसीना मैल तथा मुखका थूंक व लाल वगैरह सब अ- शुचिमें है इसलिये ऊपरके पाठ मुजब थूंक मुखकी लाल आदि सर्वअ- शुचि वस्तुओंमें जीवोंकी उत्पत्ति होना ज्ञानियोंके वचनानुसार मान्य करनाही पडेगा. उपरके पाठमें मुखकी लालका नाम अलग नहीं बतलाया तोभी कफ व पित्तके साथ लालभी पडती है इससे लालमें भी जीवोंकी उत्पत्ति मानी जातीहै, वैसेही थूंकका नाम अलग नहीं बतलाया तोभी [illegible] कफ व पित्तके साथ थूंकभी पडताहै इसलिये थूंकमें भी जीवोंकी उत्पत्ति अवश्यही मानी जातीहै, थूंक-लाल वगैरह को जगत भी अशुचि मानताहै यह प्रत्यक्ष प्रमाणहै. और कई गृहस्थी लोग एकही [illegible] एकही गिलासको हरएक आदमी जलपीने समय अपने अपने मु- [illegible] उससे एकएककी लाल-थूंक दूसरे दूसरे आ- दमीके [illegible] कभी कभी किसी आदमीके मुखमें रोगकी उत्प- [illegible] और बडे-बडे अच्छे अच्छे समझदार आदमी थूंक-लाल [illegible] जलपीना अच्छा नहीं समझते. यहभी प्रत्यक्ष प्रमाण

मुंह झूठा होताहै, ऐसे झूठे मुंहसे सूत्रका पाठ उच्चारण करना यहभी भगवान्की वाणीरूप आगमकी बडीभारी आशातना लगतीहै, उससे ज्ञानावर्णीय कर्म बंधन होताहै इसलिये हमेशा मुंहपत्ति बांधने वालोंको यहभी बडा भारी दोष लगताहै और धूप (गरमी) के दिनोंमें प्रसेवासे तथा थूकसे अन्दरसे उपरसे दोनो तरफसे मुंहपत्ति गीली होतीहै ऐसी गीली मुंहपत्ति हमेशा मुंहपर बंधी रखनेसे दुर्गंधी होतीहै उससे मुंह गन्धाताहै, जिससे अन्य दर्शनीय कोई अच्छा आदमी पासमें आकर बैठे तो ऐसी दशा देखकर घृणा करताहै उससे शासनकी बडी हीलना होती है, शासन हीलनाका यहभी दोष हमेशा मुंहपत्ति बंधी रखने वाले ढूंढियोंको लगताहै और ऐसी दुर्गंधी वाली गीली मुंहपत्ति हमेशा मुंह पर बंधी रहनेसे कभी कभी किसीके मुंहमें रोगकी उत्पत्तिभी होजाती है, होठके दागे (चाटे) पड़ जातेहैं इसलिये हमेशा मुंहपत्ति बंधी रखना सो रोगकी उत्पन्न करने वाली होनेसे सर्वथा अनुचितहै १, जिनाज्ञा विरुद्धहै २, असंख्यात असन्नी मनुष्य पंचेन्द्रीयजीवोंकी हानी करने वाली है ३, ज्ञानावर्णीय कर्म बंधन करने वालाहै ४, शासनकी हीलना करानेवालाहै शासनकी हीलना कराने वालोंके संयम व सम्यक्त्वका नाश होताहै और दुर्लभ बोधी होकर अनंत संसार बढताहै ५ तथा काउस्सग्ग ध्यानमें मौन रहनेपरभी विना कारण मुंहपत्ति बंधी रखनेसे बाल चेष्टा जैसा निष्फल क्रियाकाभी दोष आताहै ६, और होठके उपर मुंहपत्ति बंधी रहनेसे सूत्रपाठका शुद्ध उच्चारण साफ नहीं होसक्ता ७, इत्यादि अनेक दोष हमेशा मुंहपत्ति बंधी रखनेमें आतेहैं जिसकाभी इसका इसमें मुंहपत्तिकी चर्चाके प्रथम विज्ञापनमें १२ दोष बतलायेहैं सो इसग्रन्थकी आदिमेंही छपाहै, वहांसे समझ लेना।

१२ ढूंढिये कहतेहैं कि थूकसे गीली मुंहपत्तिमें मुंहकी गरमीसे जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होसक्ती यहभी ढूंढियोंका कहना प्रत्यक्ष झूठहै क्योंकि जैनसिद्धांतोंमें शातयोनी-उष्णयोनी व शातोष्णयोनी ऐसी तीन प्रकारकी जीव उत्पन्न होनेकी योनियें बतलाईहैं (यहतो प्रसिद्धहीहै) और दोनों तरफसे मुंहपत्ति गीली रहतीहै इसलिये हवाके संयोगसे बार बार मुंहसे अलग होजातीहै अथवा बारबार जलपानके समय या आहार करनेके समय हरवक्त मुंहपत्ति मुंहपरसे दूर करनी पडतीहै उसवक्त थूक

की गीली मुंहपत्तिमें शीतयोनिये जीवोंकी उत्पत्ति होजातीहै फिर वो जीवोंकी उत्पत्तिवाली गीली मुंहपत्ति मुंहपर बांधनेसे उत्पन्न हुए सब जीवोंका मुंहकी गरमीसे नाश होजाताहै इसलिये हमेशा मुंहपत्ति बांधने वालोंको थूंककी गीली मुंहपत्तिमें असंख्यात असंज्ञी पंचेंद्रीय जीवोंकी घातका हमेशा दोष लगताहै ।

३३ ढूंढिये कहतेहैं कि हमेशा मुंहपत्ति बंधी रखनेसे थूंकलगनेसे असंख्य जीवोंकी उत्पत्ति और हानि होतीहै, ऐसा कहतेहो तो मंदिरमें [illegible] श्रावक लोग पूजा करतेहैं तब २-४ घंटेतक मुखकोश बंधा रखते हैं उसमेंभी बोलनेसे थूंकलगनेसे जीवोंकी उत्पत्ति और हानि होगी, उसका निषेध क्यों नहीं करतेहो. ऐसा ढूंढियोंका कहना अनसमझका है क्योंकि मूलगंभारेमें भगवान्‌की पूजाकरते समय श्रावकोंको बोलनेकी मनाई है अगर भूलसे कोई बोलेतो अवश्यही दोषका भागी होता है और २-४ घंटे तबतक रंगमंडपमें पूजा पढातेहैं तबतक पूजा पढाने वाले मुखकोश बंधाहुआ नहीं रखते; सिर्फ मुंहआगे वस्त्रादि रखकर बोलते पूजा पढातेहैं. जिसपरभी कोई मुखकोशको बंधाहुआ रखकर पूजा पढावे तो थूंकसे गीला होनेसे जीवोंकी उत्पत्ति अवश्य होगी व [illegible] भगवान्‌की आशातना लगेगी और कर्म बंधेंगे [illegible] मुंहपत्तिको बंधी रखने वालोंको बोलनेसे थूंक लगताहै [illegible] असंख्य समूर्छिम जीवोंकी [illegible] हमेशा मुंहपत्ति बांधने वालोंको [illegible] हमेशा मुंहपत्ति बांधनेका [illegible]

का अथ मुखवास्त्रिका होताहै तोभी ढूंढियलोग उसको समझ बिना
हाथका अथ करके ' ओघनियुक्तिकी चूर्णिमें दोरा डालकर हमेशा मु
हपत्ति बांधनका लिखाहै, ऐसा कहतेहैं, लिखतेहैं, मानतेहैं परन्तु कोई
भी ढूंढिया ' ओघनियुक्ति ' का चूर्णिकी प्रतिलकर अपनी आंखोंस न
हीं देखता सब अंध परंपरासे ही एक दूसरेकी देखादेखी चूर्णिका नाम
पुकारे जातेहैं उपरका पाठ चूर्णिके नहीं है किंतु श्रीभद्रबाहुस्वामी की
बनाई हुई खास नियुक्तिके है तो भी व्यर्थही चूर्णिका नाम पुकार जातेहैं।
ढूंढियोंमें विवेकवाला सत्यकी परीक्षा करके झूठको त्यागकर सत्यग्रहण
करनेवाला ऐसा कोन आत्मार्थीहै सो शास्त्रोंके पाठोंका पूर्वापरके स
बंध सहित देखकर सत्यबातका निर्णय कर व झूठसे बच आजकल
ढूंढियोंमें कई साधू व्याकरणादि पढे लिखे विद्वान् पंडित प्रसिद्धवक्ता
सत्योपदेशक वगैरह नाम धारण करनेवाले बहुत कहे जातेहैं, परन्तु
सब अंधरूढी में फस गयेहैं अगर सत्यका प्रकाश करने वाला ऐसा
कोई आत्मार्थी होवे तो हमेशा मुंह बांधनका अंध रिवाज कभी न च
लने पावे प्रश्नव्याकरण प्रवचनसारोद्धार ओघनियुक्ति और महानि
शीथ वगैरह बहुत शास्त्रोंमें "मुहणंतगेण "मुहणंतगस्स" एसे पाठ आ
तेहैं यहां सब जगहपर मुखवस्त्रिका ऐसा अर्थ होताहै, जिसपर भी ढूंढिये
मुखका ढांकना ऐसा खोटा अर्थ अपनी अज्ञानतासे करतेहैं सो सर्वथा
झूठहै इसलिये मुखका ढांकना एसे प्रत्यक्ष झूठ कथनका किसीकोभी
विश्वास करना योग्य नहींहै, इस विषयमें पहिलेभी ' महानिशीथ ' के
पाठका समाधानमें इस ग्रंथके छपेहुए पृष्ठ ३१ वें की ६३ वीं कलममें लि
ख आयेहैं, वहांसे समझ लेना।

११७ ढूंढियलोग " यतिदिनचर्या ' और " यतिदिनकृत्य " इन
दोनों ग्रंथोंके नामसे हमेशा मुंहपत्ति बंधी रखनेका ठहरातेहैं सोभी प्र
त्यक्ष झूठहै, देखिये " यतिदिनचर्या " का पाठ ऐसाहै —

" मुहपत्ती रयहरणं, दुन्निनिसिज्जा उ चोल कप्पतिगं ॥ रयहरणस्स
पट्टा दसपह्लाणुग्गए सूरे ॥ २६ ॥ वत्तासमुल्लंडाइ, रयहरण पुंछियाय अ
हण ॥ आयाण रक्खणट्ठा, लिंगट्ठा चेव एयन्तु ॥ २७ ॥ व्याख्या.— मुखान
न्तकनामधेयापि — वर्यमित्यास्याह — ' मुहपत्ति ' तत्र धर्मध्वज
हपूर्वमादौ मुखवस्त्रिका प्रतिलेखनीया । तदनुरजोहरण २, पश्चाद्द्वौ

परकी एक ऊनकी दूसरी सूतकी ऐसी दो निषिया चोल्पट्ट, तीनच र, सत्थारीया और उत्तरपट्टा ऐसी दश वस्तुओंकी अनुक्रमसे पडिले रणाकरे, फिर पात्रे पडिलेहणाके अवसरमें गुच्छे पडलें, पात्रकेशरी ा, पात्रबंध, पात्रें, रजस्राण व पात्रस्थापन एसे ७ प्रकारके पात्रोंके उप करणोंकी पडिलेहणा करे। और चौवीश अगुल दंडी ता आठ अगुल दशी (फली) अथवा वीश अगुल दंडी ता १२ अगुल फली एस जीव दयाके व प्रमार्जन करनेके लिये ३२ अगुल ल्बा रजोहरण रखनेका व तलायाहै और एकवेंत उपर चार अगुल अथवा अपने अपने मुखप्रमाणे मुहपत्ति होतीहै यह मुहपत्ति बोल्नेके समय मुंहआगे रखनमें आतीहै उससे बोल्ते समय उडतेहुए सुक्ष्मजीव मुखमें न गिरने पावें तथा मु खादिपर रजादि गिरेतो उसी मुहपत्तिसे मुहकी प्रमाजना करनेमें आती है अथवा उपाश्रय प्रमार्जन करते समय नाक और मुख दोनों बांधनमें आते हैं।

१२० देखिये उपरके दोनों पाठोंमें बोल्नेके समय मुहपत्तिसे मु हआगे रखनेका बतलायाहै परन्तु हमेशा बंधी रखनेका किसी जगहभी नहीं लिखा और ३२ अगुल प्रमाण ल्बा रजोहरण रखनेका बतलायाहै उस मुजब ढूंढिये साधू रखते नहीं इससे विपरीत होकर बिना प्रमाण का बहुत लंबा रजोहरण रखतेहैं, सोभी शास्त्र विरुद्धहै और गुच्छे, पड लें वगैरह पात्रोंके उपकरण रखनेका कहाहै सोभी रखतनहीं तथा उप रके दोनों ग्रंथोंमें जिनप्रतिमाके दर्शन करनेका लिखाहै, उसकोभी मान ते नहीं और कारण बिना थोडी देर लिये नाक व मुंह दोनों बांधनेका लिखाहै, उस मुजबभी बांधते नहीं तिसपरभी दोनों ग्रंथकार महाराजों के विरुद्ध होकर " यतिदिनचर्या " व " यतिदिनरत्न " के नामसे हम शा मुहपत्ति बंधी रखनेका ढूंढिये कहतेहैं सो प्रत्यक्षही मायाचारीसे झूठ बोलकर भोलेजीवोंको उन्मार्गमें डालतेहैं और प्रत्यक्षही पापके भागी होकर भव हारते हैं, सो पाठकगण आपही विचार सक्तेहैं।

१२१ " आचारदिनकर " में हमेशा मुहपत्ति बांधनेका लिखाहै, ऐसा ढूंढियोंका कहना प्रत्यक्ष झूठहै, क्योंकि 'आचारदिनकर' में तो खुलासा पूर्वक मुहपत्ति हाथमें रखनेका लिखाहै देखिये—छपेहुए " आचारदिनकर " के पृष्ठ ७३ वें का पाठ यहहै—

कारका अंतर आशय समझविना अतिशयोक्तिक वाक्यसे हमेशा मुह पत्ति बांधनेका ठहराते हैं मगर पूर्वापर विरोधी और युक्तिविरुद्ध होने से कभी सत्य नहीं ठहर सकता। इस बातका विशेष खुलासा निर्णय आगेके लेखकी समीक्षामें लिखेंगे वहांसे जान लेना

---

१४१ हरिबलमच्छी के रासमें हमेशा मुहपत्ति बांधनेका लिखा है ऐसा ढूंढियोंका कहना प्रत्यक्ष झूठहै देखो छपाहुआ हरिबलमच्छी के रासका दूसरा उल्लास सातवीं ढालके पृष्ठ ७२, ७३ वेंमें ऐसे छपे हैं—

इणि परे नृपमंत्रीसरू, एकमता करी दोय ॥ महीपति पहोता मंद रमा, मंत्री गयो घर सोय ॥१॥ बीजे दिन रवि उगिया, प्रगटया राग विलास ॥ शकुनीयें पांह पसारीया, कैरव कीध विकास ॥२॥ वाच्छद का वलगा जइ, धावाने हर्षेण ॥ दोयो वस भामिनी, जेहन छे घर धण ॥३॥ देउल सघल वाजीया, झालरना झणकार ॥ तास शबद सुणतां थका, रजनी नाठी सिवार ॥४॥ सुलभबोधी जीवडा माहे नाज घरक में ॥ साधुजन मुख मोसती, बांधी है जिन धर्म ॥५॥ मंगल वाजां वाजीया, वाज्या गुहिर निशाण ॥ ए करणी परभातनी जय उगे पुन भाण ॥६॥ मदनवेग नृप तिण समें, परखद भरी एकत्र ॥ बेठो सिंहासन हरख सेती धरायी छत्र ॥७॥ "

१४२ प्रिय पाठकगण उपरके लेखमें राजा सूर्य उदय समय परिषदा इकट्ठी होनेपर राजसभामें आताहै यह अधिकार चलाहै सूर्य उदयके समयमें रातकाले प्रसंगवश गृहस्थलोगोंके कर्तव्य बतलायेहैं उसमें सूर्य उदय होनेसे सब नगरके जिनमंदिरोंके दरवाजे गुड झालर आदि मंगलीक वाजिंत्र बजनेलगे तब " सुलभबोधि जीवडा " यानेध र्मी श्रावक जन, " माहे निज घर कम " याने— छ कर्म (कर्तव्य) करने लग सोही बतलातेहैं—

'जिनेंद्रपूजा गुरुपास्ति', स्वाध्याय संयम तप ॥ दान चेति गृहस्थानां, षट कर्माणि दिने दिने ॥१॥,

परके श्लोकमें साधु तीनों वस्तुओंको धारण करने वाले लिखाहै परन्तु बाँधने वाला नहींलिखा, इससे बांधनेका नहीं ठहरसकता यदि मुहपत्ति हमेशा बांधनेका ठहराओगे तो मुहपत्तिकी तरह ओघा और दण्डाभी हमेशा बांधनेका ठहर जावेगा और ओघा व दण्डा तो ढूंढियेभी हमेशा बांधनेका नहींमानते, इसलिये धारण करने शब्दसे जैसे ओघा व दण्डा कामपड़े तब धारण करनेमें आताहै, तैसेही मुहपत्तिभी बोलनेका काम पड़े तब मुहआगे धारण करनेमें आताहै उसको बांधनेका ठहराना यही ढूंढियोंकी बड़ी अज्ञानताहै।

१४८ ऊपरके श्लोकमें हाथमें दण्डा धारण करनेका लिखाहै परन्तु ढूंढिये साधु दन्डा रखते नहीं और रखने वालोंकी निंदा करतेहैं, इससभी ढूंढकमत अभी थोड़े समयसे नवीन चलाहै, ऐसा ऊपरके लेखसे साबित होताहै, यह बातभी सत्यहै, ढूंढियोंकी उत्पत्ति २५० वर्षोंसे लगभगसे हुईहै और ढूंढियेलोग श्रीमालपुराणके नामसे मुहपत्ति बंधी रखनेका कहतेहैं, परन्तु श्रीमालपुराणका पूरा श्लोक लिखकर उसका भावार्थ कर सकते नहीं, पुस्तकोंमें लिखकर छपवा सकतेभी नहीं और सभामेंभी श्रीमालपुराणका श्लोक बतला सकते नहीं क्योंकि श्लोकका सच्चा अर्थकरे व सभामें लाकर बतलावें तो हमेशा मुंहबंधा रखनेका अपना झूठापक्ष छोड़नापड़े और हाथमें दण्डा धारण करनेका स्वीकार करनापड़े, अपना मायाचारीका पोल खुलजावे इसलिये श्रीमालपुराणका श्लोक लिखकर उसका सच्चा अर्थ करसकतेनहीं व्यर्थही श्रीमालपुराणके नामसे मायाचारीसे भोलेलोगोंमें ठगबाजी फैलातेहैं इसलिये यह लोग सच्चे जैनीनहींहैं, किन्तु जैनशासनमें भोलेलोगोंको ठगनेवाले बनठगहैं ऐसे पाखंडियोंका संग छोड़नाहीं हितकारीहै।

१४९ "शिवपुराण" की ज्ञान संहिताके २१ वें अध्यायके ३ और २५ वें श्लोकके नामसे ढूंढियेलोग हमेशा मुहपत्ति बंधी रखनेका ठहरातेहैं सोभी सब झूठहै, देखिये ३ और २५ वा श्लोक— "वस्त्रयुक्तं तथा हस्तं, क्षिप्यमाणं मुखे सदा ॥ धर्मेति व्याहरन्तं, नमस्कृत्य स्थितं हरेः ॥३॥" तथा— "हस्तेपात्रं दधानाश्च, तुण्डेवस्त्रस्य धारकाः ॥ मलिनान्येव वासांसि, धारयन्तोऽल्पभाषिणः ॥२५॥" याने—हाथमेंवस्त्र (मुहपत्ति) लिये तथा व २ बोलनेका कामपड़े तब २ हमेशा मुखपर वस्त्र (मुहपत्ति) रखने

ढाई हजार (२४५०) वर्ष हो गये हैं सो गौतम स्वामी के तपस्या करने से तपगच्छ नाम नहीं हुआ किंतु भगवान् की परंपरा में ४४ वें पाटपर बड़गच्छ में श्री जगच्चंद्रसूरिजी आचार्य हुए थे सो शिथिलाचारी चैत्य वासी हो गये थे परंतु पुण्य के उदय से वैराग्य आने से शुद्ध संयमी त्यागी होकर विचरने लगे वनादि में भी रहने लगे बहुत तपस्या भी करने लगे, बड़े नामी हुए तब राणाजी ने इन्हों को बहुत तपस्या करते हुए देखकर संवत् १२८५ में तपा पद दिया, तब से इन्हों की परंपरा वाले तपगच्छ के कहलाते हैं और अनुमान संवत् १५०० में कई गच्छवाले आचार्य प्रमादी परिग्रहधारी हो गये थे सो पालखी आदि वाहनों में बैठने लगे, पैसा लेने लगे तब लोग उन्हों को श्री पूज्य कहने लगे यह ऐतिहासिक बात प्रसिद्ध ही है यही पूज्यनाम तथा तपस्या करने से तपगच्छ कहलाने की बात पुराणों में लिखी है यह तपगच्छ नाम सं० १३०० में प्रसिद्ध हुआ है, इससे सं० १३०० के बाद सं० १४०० या १५०० में पुराण रचे गये ठहराते हैं इसलिये पुराणों को ५००० वर्ष के प्राचीन ठहराना यह भी ढूंढियों का कथन प्रत्यक्ष झूठ है और ऐसे झूठे प्रमाणों को आगे करके अपनी प्राचीनता का अभिमान करना भी व्यर्थ है।

१९२ फिरभी देखिये इसी शिवपुराण की ज्ञान संहिता के २१ वें अध्याय के ३ और २९ वें श्लोक में जैनमुनि को धर्मलाभ कहने का लिखा है इसलिये शिवपुराण के प्रमाण को मानने वाले सर्व ढूंढियों को धर्मलाभ कहना मान्य करना योग्य है और श्रीमाल पुराण के ७३ वें अध्याय के ३३ वें श्लोक का प्रमाण ढूंढिये बतलाते हैं इसी श्लोक में जैन साधु को हाथ में दंडा धारण करने का लिखा है इसी लिये सब ढूंढिये साधुओं को इस आगम के कथन मुजब हाथ में दंडा अवश्यमेव धारण करना चाहिये जिसके बदले दंडा धारण करने वालों को दंडा २ कहकर निंदा करते हैं, यही बड़ी अज्ञानता है। जैनसिद्धांतों में साधु को दंडा रखने का किस किस आगमों में लिखा है व दंडा रखने से क्या क्या लाभ होते हैं उसके विषय में आगे लिखने में आवेगा। और शिवपुराण वगैरह के रचने वालों ने अनेक बातों की बातों को समझे बिना व पूरा निर्णय किये बिना अपनी अज्ञान ता से जैनशासन की निंदा करने के लिये मनकल्पित झूठी झूठी बातें लिखकर अपनी पक्षपात व बुद्धि का खूब परिचय बतलाया है ऐसे पक्षपा-

बांधकर क्या बोलताहै ऐसा विचार नहीं किया देखो- जैसे अभी कोईभी नवीन विदेशी आदमीने ढूंढिये साधुओंको कभी न देखे होवें और अकस्मात् देख लेवे तो देखतेही "यह मुहबंधा कौनहै" ऐसा प्रश्नहो सपने मनमें विचार करने लगताहै व लोगोंके सामने कहनेभी लगताहै और कोईभी लेखक ढूंढिये साधुओंका रूप व कर्त्तव्यका उल्लेख करताहै तो मुहबांधनेका विशेषण प्रथमही लिखता है और अन्य दर्शनीय लोग मुहबंधे मुहबंधे कहके हसते हैं। इसीतरहसे अगर प्राचीन कालमें मुनियोंके मुह बंधे हुये होते तो केशीकुमार महाराजको देखते ही प्रदेशीराजा यह मुहबांधे क्या बोलताहै ऐसा विचार अवश्य करता परन्तु कियानहीं व सारथीकोभी कहकर बतलाया नहीं। औरभी इसी तरहसे अनाथी आदिहजारों मुनियोंके अधिकार अनेक आगमोंमें आये हैं, वहां कहींभी हमेशा मुहबंधा रखनेका विशेषण किसी आगममें किसी मुनिके लिये नहीं आया। और निशीथादि आगमोंमें मुनियोंके मुह खुले रहनेका प्रकटही अधिकारहै इसलिये इन आगमप्रमाण व प्रत्यक्ष युक्तियुक्त प्रमाणसभी ढूंढियोंका मुहबंधा रखना नया व झूठा ढोंग सिद्ध होताहै।

१५८ उपासकदशादि सूत्रोंमें आनंद—कामदेवादि बहुत श्रावकोंके अधिकार आयेहैं उसमें किसी जगह किसीभी श्रावकने सामायिकादिधर्मकार्यमें मुहपत्तिसे मुहबांधने संबन्धी कोईभी पाठ नहीं आया और कामदेवादि बहुत श्रावक प्रतिमा धारण करके रात्रि का पौषध में काउसग्ग ध्यानमें खड़े रहने वालेथे, उन्होंको धर्मध्यानसे चलायमान करनेके लिये देवोंने अनेक तरहके उपसर्ग किये अनेक तरहके वचन भी बोले परन्तु मुहबांधनेका आक्षेपरूप वचन नहीं कहा, इसलिये ढूंढिये साधू गृहस्थ लोगोंको सामायिकादि धर्मकार्योंमें मुह बंधवातेहैं सोभी सर्वथा जिन आज्ञा विरुद्धहै औरभी इसीतरहसे बहुत साधु मुनिराजोंको देवोंने अनेक तरहके उपसर्ग कियेहैं, उन्होंका अधिकार सूत्रोंमें जगहजगह आयाहै परन्तु वहांभी मुहबांधनेका आक्षेप कहीं भी देखनेमें नहीं आया, इसलियेभी ढूंढियोंका मुहबांधना प्रत्यक्ष नया ढोंगहै।

(देखो ढूंढियोंकी उत्सूत्र प्ररूपणाका प्रथम नमूना)

१५९ ढूंढिये कहतेहैं कि "ताजे नवे मुक्ति हुवे ... लिंग मु-

याने हमेशा मुंह खुले रखनेका सिवाय उनके सब आगम पाठ इसी ग्रंथमें पहिले लिख चुकेहैं इसलिये अनादि कालसे मुहपत्ति हाथमें रखनेकी जिनाज्ञाहै जिसपरभी प्रत्यक्ष आगम विरुद्ध होकर पहिलेके सब साधुओंको हमेशा मुहपत्ति बांधी रखनेका झूठा दोषलगातेहैं सो उत्सूत्र प्ररूपणामें अनंत तीर्थंकर महाराजोंकी आज्ञा उत्थापन करतेहैं। जैन शासनमें हमेशा मुंह बांधनेका नया ढोंग विक्रम संवत् १७०९में 'लवजी' ने चलायाहै सो प्रसिद्धहीहै और इस ग्रंथमें पहिले लिखभी आयेहैं।

---

१८२ कई मुंहबंधे कहतेहैं कि साधुओंकी मांडली (टोली) में सब को आहार देते (बांटने) समय अगर मुंहपर मुहपत्ति बंधीहुई न होवे तो आहार देते समय कैसे बोलसके, इसलिये मुहपत्ति बंधी रखना योग्यहै यहभी मुंहबंधोंका कहना प्रत्यक्ष झूठहै, क्योंकि देखो आहार करते समय मौनपने रहकर इशारेसे रोटी-शाक जल वगैरह साधुलोग मांग सकते हैं, उससे देने वालाभी मौनपने दे सकताहै और आहार करते समय सब साधु-साध्वियों के मुंह खुले रहतेहैं तथा हमेशा मुंह बांधकर फिरने वाले ढूंढिये व तेरहापंथी साधु आहार करते समय मुहपत्ति मुंहपर से खोल डालतेहैं, उस समय मुंह बांधनेकी कोई भी जरूरत नहीं पड़ती इतने परभी अगर आहार बांटने के समय मुंह बांधनेका हठ करोगे तोभी उस समय थोड़ी देरके लिये बांध लो मगर आहार बांटनेके बहाने चलते फिरते हमेशा बांधकर दुनियाके लोगों को स्वांग जैसा ढोंग बतलाकर सबके शासन की हीलना करवाना योग्य नहीं है।

---

१८३ ढूंढिये कहतेहैं कि मुनिके मृतक शरीर के मुंहपर मुंह पत्ति बांधी जातीहै उससे हमभी हमेशा बांधा रखते हैं यहभी कथन अन समझका है क्योंकि देखो ढूंढिया के मरे हुए साधु-साध्वियों के मुंहपर मुहपत्ति बांधतेहैं सो अपने मत का हठाग्रह, मुरदे कुछ बोलते नहीं उनके मुंहपर मुहपत्ति बांधना व्यर्थ है। और जब मुरदे को मांडी (विमान, बैकुंठी) में बैठा कर जलाने को ले जाते हैं उस समय मुरदा हिलताहै उससे मुहपत्ति भी हिलती रहतीहै उससे बार बार वायुकायके असंख्य जीवोंका नाशहोताहै उससे मुहपत्ति बांधनेका

१८६ फिरभी देखो विचारकरा-मुहपर मक्खी बैठनेसे मुह अशुद्ध मानोंगे तो मुहपत्ति परभी मक्खी बैठतीहै, उससे मुहपत्तिभी अशुद्ध हो जावेगी ऐसी अशुद्ध मुहपत्तिको अपन मुहपर बांधकर आप भगवानका नाम लेतेहैं, मुहपत्ति बाधनेसेभी मक्खीकी अशुद्धता तो मिट सकती नहीं तो फिर मक्खी बैठनेकी अशुद्धता बतलाकर भाल जीवों को भगवानका स्मरण करनेकी मना करना तथा मुहपत्ति बांधने क अपने झूठे मतमें डालना ऐसी प्रपचबाजी करना आत्मार्थियोंको योग्य नहीं है।

१८७- ढूंढिये कहतेहैं कि बड़े २ अग्रजोंने अपने बनाये पुस्तकोंमें जैन मुनियोंके मुहपर मुहपत्ति बांधना लिखाहै, इसलिये हम हमेशा बांधी रखते हैं इस प्रकार अंग्रेजोंके लेखों का प्रमाण बतलाकर हमेशा मुहपत्ति बांधनेकी बातको पुष्टकरना बडी भूलहै क्योंकि देखो कोईभी अन्य दर्शनीय विद्वान् या जैनी विद्वान् वर्त्तमानमें जैन धर्मका स्वरूप लिखने वाले श्वेताम्बर, दिगम्बर व ढूंढिये इन तीनोंका स्वरूप लिखतेहैं। यह लोग तो देखें वैसा लिखें, मगर वस्तु का निर्णय रूपमें नहीं लिखते वैसेही-अंग्रेज लेखकों ने भी अभी ढूंढियों का मुहपत्ति बांधना देखकर मुहपत्ति बांधना लिख दिया सो शास्त्रानुसार सत्यरूप से नहीं लिखा किंतु वर्त्तमान में जैसा देखा वैसा लिखाहै इसलिये उस अग्रेजों के लेखों को देखकर मुहपत्ति बांधने की सत्यता का घमण्ड करना व्यर्थ है।

१८८ फिर भी देखो विचार करो आज से २२ २३ वर्ष पहिले सन् १९०२ में अंग्रेज लेखकों ने ढूंढियों के मुह बांधने का लिखा उसको सत्य स्वरूप मानते हो तब तो उसके भी पहिले के अंग्रेज लेखक एडवर्ड साहब ने सन् १८५८ में 'रासमाला' में ऐसा लिखा है - The Doondea ascetic is a disgusting object— He wears a screen of cloth called Moomuttee, tied over his mouth His body and clothes are filthy in the last degree and covered with vermin " [illegible]

इस लेखका भावार्थ ऐसा है कि —"ढूंढियों के साधू घृणा करने योग्य है व अपने मुह को एक प्रकार के कपड़े से ढका रखते है जो कि

का उपहास करते हुए ऐसी गाथा बनाई हैं इसलिये मुहपत्ति बांधने का निषेध करने वाली गाथाओंका भावार्थ समझे विना ऐसी गाथाओं को देखकर मुहपत्ति बांधनेका ठहरानेवाले ढूंढियोंकी बडी अज्ञानताहै।

---

२०० ढूंढिये कहतेहैं कि नाककी हवा से जीव नहीं मरते इस लिये हम नाक खुला रखतेहैं यहभी ढूंढियोंका कहना प्रत्यक्ष मिथ्याहै, क्योंकि देखो-"आचारांग" सूत्रमें उश्वासलेते, निःश्वास लेते, छींकखाते नाक मुंह दोनों ढकलेना कहाहै, तथा "आवश्यक" सूत्रमें भी कायो त्सगमें यदि खांसी, छींक, आदि आवे तो उसकी यत्ना करनेके लिये हाथ उठाकर नाक मुंह दोनोंके आगे रखनेका कहाहै इसके पाठ पहिले लिख चुकेहैं, इस प्रमाणसेभी नाकसे जीवोंकी हानि होना आगमप्रमाणा नुसार प्रत्यक्ष सिद्धहै।

२०१ फिरभी देखिये-सोतेसमय, चलतेसमय या जोरसे कार्य कर ते समय नाकके छिद्रोंसे इतना वेगसे जोरका श्वासोश्वास निकलताहै कि कभी २ श्वासके झपाटे से नाकके अन्दर डांस-मच्छर-मक्खि, आदिजीव घुस जाते हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध जगत् प्रसिद्ध बातहै इसलिये सिद्धहुआ कि नाककी हवासे भी जीव अवश्य मरतेहैं, यदि ढूंढियोंको जीव दयासे प्रीति हो तो नाकपर अवश्य मुहपत्ति बांधें, जिसपरभी नाककी हवासे जीव नहीं मरनेका कहकर नाककी यत्ना करने का उडा देतेहैं, सो प्रत्यक्ष आगम विरुद्ध होकर मिथ्याभाषण कर के असंख्य जीवोंकी हानिके पापके भागी बनतेहैं।

---

२०२ ढूंढिये कहतेहैं कि "पन्नवणा" सूत्रमें लिखाहै कि भाषा वर्गणा के पुद्गल मुंहके अन्दर रहें तबतक चार स्पर्शवाले होतेहैं परन्तु जब मुंहके बाहिर निकले तब आठ स्पर्शवाले होकर वायुकायके जीवोंका नाश करतेहैं इसलिये वायुकायके जीवोंकी रक्षाके लिये हमलोग हमे शा मुहपत्ति बांधतेहैं, यहभी ढूंढियोंका कहना प्रत्यक्ष झूठ है क्योंकि देखो- 'पन्नवणा' सूत्र वृत्तिसहित छपेहुए पृष्ठ २६१ में ऐसा पाठहै-

"जाइ भावतो फासमंताइ गेण्हति ताइ किं एगफासाइं गेण्हइ, जाव अट्ठफासाइ गिण्हति? गोयमा! गहणदव्वाइं पडुच्च णो एगफासा

दूर रहा किन्तु सर्वथा मुहके आगेभी कभी नहीं रखते, और जब धर्मदेशना देतेहैं, तब एक योजन (चारकोस) के प्रमाणमें देव मनुष्य व तिर्यंच पशु, पक्षी आदि सबके सुननेमें आतीहै और ढूंढियोंके कथनानुसार भाषा वर्गणाके पुद्गल मुहके बाहिर निकलनेसे आठ स्पर्शवाले होकर यदि वायु कायके जीवोंकी हानि करते होवें तब तो तीर्थंकर भगवान् बहुत वायुकायके जीवोंकी हिंसा करने वाले ठहरेंगे, ढूंढियोंकी दया तो तीर्थंकर भगवान्से भी बहुत ज्यादा बढगई, सो आप मुह बांध कर दया पालने वाले बनतेहैं और तीर्थंकर भगवान् को हमेशा खुले मुंह बोलने से वायु कायके जीवोंकी हिंसा करने वाले ठहरातेहैं, बडे अफसोस की बातहै कि ढूंढियोंमें कैसी अज्ञान दशा फैली हुईहै सो तीर्थंकर भगवान्की अवज्ञा करने वाली कुयुक्ति करनेमें संकोच नहीं करते हैं शास्त्रोंमें तीर्थंकर भगवान् की भाषा को एकान्त निर्दोष बतलाया है इसीसे साबित होताहै कि भाषाको आठ स्पर्शवाली कहकर वायु कायके जीवोंकी हिंसा करने वाली ढूंढिये ठहराते हैं सो प्रत्यक्ष शास्त्र विरुद्ध है।

२०६ यहांपर कोई ऐसा कहेगा कि तीर्थंकर भगवान् मुहपत्ति नहीं रखते हैं उसी तरह हमलोग भी मुहपत्ति न रखें तो क्या दोष है इसका का समाधान ऐसा है कि- भगवान् का आचार अगोचर है वह तो केवल ज्ञानी हैं तथा रागद्वेष मोह प्रमाद वगैरह दोष नाश करने वालेहैं छद्मस्थ अवस्था में भी सदा अप्रमादी रहतेहैं व अवधिज्ञान होनेसे उपयोग वन्तभी रहतेहैं, और हमेशा कायोत्सर्ग ध्यानमें मौन रहते हैं व कभी बोलनेका काम होवे तोभी उपयोग से निरवद्य भाषा बोलते हैं इसलिये व्यवहारसे मुहपत्ति वगैरह कोई भी उपकरण नहीं रखते और अपने लोग राग द्वेष मोह कषायादि दोष सहित प्रमादी हैं और समय २ भूलने वाले हैं इसलिये जीवदया वगैरह के लिये व्यवहारसे मुहपत्ति वगैरह उपकरण रखने पडते हैं। दूसरी बात यह भी है कि भगवान् तीर्थंकर हैं जब प्रश्न होते हैं तब धर्म देशना देते हैं सबकी भाषा समझमें निर्दोष होतीहै और अपन को भगवान की आज्ञा मुजब बोलना पडताहै परन्तु भगवानकी देखादेखी करना नहीं बनता और भगवानने सब साधु साध्वियोंको व्यवहारसे मुहपत्ति वगैरह उपकरण रखनेकी आज्ञा दी है इसलिये अवश्यही रखने चाहिये इतने परभी जो कोई भी भगवान् की देखा देखी मुहपत्ति न रखेंगे वो भगवान् की आज्ञा के [illegible]

लिये उपर लिखे सर्वकार्य ढूंढियों को अवश्य ही त्याग करने चाहियें तभी वायुकायकी दया पालने वाले ढूंढिये बन सकेंगे, नहीं तो ऊपर, मुजब सर्व कार्य करते रहेंगे और फिर वायुकायकी दयाकेलिये मुंह बांधन का हठ करेंगे तबतो वायुकायकी दया नहीं किंतु वायुकायके नाम से भोले जीवों को भ्रममें डालने की प्रपंच बाजी फैलाने का ढोंगहा समझा जावेगा, इसलिये आत्मार्थियोंको ऐसी मायाचारी की प्रपंच बाजी का त्याग करनाही हितकारी है।

---

२०९. "जैन सम्प्रदाय शिक्षा" चौथा अध्याय पृष्ठ १५९ वेंमें वैद्यक अधिकारमें हमेशा मुंहबंधा रखनेसे अनेक नुकसान होनेका बताजाताहै उसका लेखनीचे मुजब है-"तीसरा पदार्थ- उस हवामें दुर्गंध युक्त मैल है, अर्थात्- श्वासका जो पाणी स्वच्छ नहीं होता है वह बर्तनों के धावन के समान मैला और गन्दा होता है उसी में सडेहुए कई पदार्थ मिले रहते हैं यदि उसको शरीर पर रहने दिया जाय तो वह रोग को उत्पन्न करता है अर्थात्- श्वासकी हवामें स्थित वह मलीन पदार्थ हवाके समान ही खराबी करता है, देखो! जो कोई एक पेशा वाज लोग हरदम वस्त्र से अपने मुख को बांधे रहते हैं, वह (मुखका बांधना) रसायनिक योग से बहुत हानि करता है अर्थात्-मुंहपर दाग होजाते हैं मुंहके बाल उडजाते हैं, श्वास व कासरोग होजाता है इत्यादि अनेक बीमारियां होजाती हैं, इसका कारण केवल यही है कि मुहके बंधे रहने से विषैली हवा अच्छे प्रकार से बाहर नहीं निकलने पाती है'

२१० इसी उपरके लेखका भावार्थ ऐसा है कि हमेशा मुंह बंधा रखनेसे बोलते समय पेटके अंदरसे जो दुर्गंध युक्त खराब परमाणु मुंह में से बाहिर निकलते हैं सो वह मुंहपत्ति के लग जाते हैं बादमें खराब परमाणु मुंह के श्वासोश्वाससे पीछे पेटके अंदर जाते हैं तथा नाकसे श्वासोश्वासके साथ भी जो दुर्गंध वाले खराब परमाणु बाहिर निकलते हैं, वह भी मुंहपत्ति के उपर चिपक जाते हैं और उश्वास के साथ पीछे पेट के अंदर चले जाते हैं, उससे पेटके अंदर में कचरा इकट्ठा है और बाद श्वास वगैरह रोग उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार इसी देश और अमेरिका डाक्टर लोगभी हमेशा मुंह बंधा रखने में बहुत नुकसान"

॥ खास जरूरी सूचना ॥

२१३ ढूंढियों ने "अमरकुमार चरित्र' इत्यादि अन्य दर्शनीय ग्रन्थों में तथा 'षड्दर्शन समुच्चय" इत्यादि जैन शास्त्रों में 'मुखवस्त्रिका, मुहपत्ति, मुखपट्टी' ऐसे मुहपत्ति शब्द के नाम मात्र को देखकर उससे हमेशा मुहपत्ति बांधनेका ठहराया है सो बड़ी भूल की है। मुहपत्ति कहने से हमेशा मुहपर बांधना कभी नहीं ठहर सकता, इसबातका विशेष विवरण पहिले लिख आया हूँ। अगर ढूंढियों को मुहपत्ति शब्द देखने से भ्रम पड़गया हो तबतो धर्म संग्रह वृत्ति १, श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र की चूर्णि २ वृत्ति ३, महाभाष्य ४, बृहत्कल्प चूर्णि ५, वृत्ति ६, आवश्यक चूर्णि ७, वृत्ति ८, लघुवृत्ति ९, टिप्पणक १०, षडावश्यक बालावबोध ११, पंचवस्तु वृत्ति १२, विधि प्रपादि १५ विधि विधानकी सामाचारियोंके ग्रन्थोंमें २७ प्रवचनसारोद्धार बृहद्वृत्ति २८, लघुवृत्ति २९, नवपद प्रकरण वृत्ति ३०, श्रावक धर्म प्रकरणवृत्ति ३१, श्राद्धविधि ३२, प्रतिक्रमणगर्भहेतु ३३, [illegible] मध्य [illegible] वृत्ति ३४, त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र ३५ उपदेश प्रसाद ३६, सामाचारी शतक ३७ इत्यादि विधिवाद के तथा चरितानुवाद के व उपदेश के सैकड़ों जैन ग्रन्थों में साधु श्रावक के सम्बन्ध में मुहपत्ति शब्द ढूंढियों के देखने में आवेगा परन्तु मुहपत्ति शब्द से हमेशा मुहपर बांधना कभी साबित नहीं हो सकता, इसलिये योगशास्त्र वृत्ति, आचार दिनकर, आवश्यक बृहद्वृत्ति, ओघ नियुक्ति, पिण्डनियुक्ति, आदि प्राचीन शास्त्रोंके नामसे तथा भगवतीजी, ज्ञाताजी, उपासकदशा, अनुत्तरोववाई, अंतगडदशा, विपाक, उत्तराध्ययनादि आगमोंके नामसे केवल मुहपत्ति शब्द देखकर अपनी अज्ञान कल्पना से हमेशा बांधने का ठहराया है सो उत्सूत्र प्ररूपणारूप मायाचारीयोंको उन्मार्ग ज्ञानकर संसार बढ़ानेका बड़ा अनर्थ खड़ा किया है। और जब हमेशा मुहपत्ति बांधीरखना जिनाज्ञा भी नहीं है किसी जैनागम में कहीं भी नहीं लिखा तो फिर शिवपुराण श्रीमाल पुराण [illegible] चरित्र वगैरह मिथ्यात्वियों के शास्त्रों के नाम से और [illegible] रास हरिबल मच्छी का रास, भुवनभानु केवलि का रास, वगैरह के लेखों का भावार्थ समझेबिना तथा २२ २३ पत्र के [illegible] लावणी के (वर्तमान के ढूंढियों के मुह बांधने का) लेख देखकर हमेशा मुहपत्ति बंधन का ठहराना बड़ी ही भूल है इन सब बातों का पूरा २ विशेष निर्णय इसग्रन्थको सम्पूर्ण बांचने वाले पाठकगण आपही मालूम कर लेवेंगे।

मन का धारण करने की विधि सुनने में बहुत सरल है, किन्तु मन को एक जगह बाँधना बहुत कठिन है। साधारण लोगों के लिए यह अभ्यासागम्य है। मन को प्रबल इच्छापूर्वक किसी ध्येय पर बाँधा जा सकता है, किन्तु बलपूर्वक नहीं। इस धारणा के पूर्व एक अभ्यास करना बहुत जरूरी है—दिन में एक दो बार कुछ समय के लिए चुप्पी साधकर बैठें, मन के वेगों को रोकें नहीं, विचार तरंगों को अपने आप उठने और शान्त होने दें। मन की उछल कूद से कोई नुकसान नहीं, केवल उस मन के व्यापारों पर ध्यान रहे। उसकी गति की स्थिरता के साथ देखते रहने से सम्भव है बहुत बुरी-बुरी भावनाएं मन साथ उभर आएं। बहुत बार उनका समाधान तो दूर द्रष्टा स्वयं उनमें उलझ जाता है। अतः संकल्प दृढ़ता के साथ आगे बढ़ना है। धीरे धीरे आप देखेंगे कि मन की चंचल क्रियाएं दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही हैं और स्थिर हो रहा है। मन का इन्द्रियों के साथ संयुक्त न होना ही प्रत्याहार की भूमिका है।

धारणा के मुख्य पांच प्रकार—

हमारा शरीर जिन तत्त्वों से बना है, वे हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन तत्त्वों से निर्मित शरीर के साथ हमने गहरा सम्बन्ध स्थापित कर रखा है। जो सम्बन्ध आज तक बंधन का हेतु रहा है वही बार-बार चिन्तन के कारण सम्बन्ध विच्छेद का हेतु बन जाता है। इस आधार पर संस्थान विचय के अन्तर्गत पिण्डस्थ ध्यान का क्रम आता है जिसकी पांच धारणाएं हैं—

1—पार्थिवी धारणा
2—आग्नेयी धारणा,
3—वायवी धारणा
4—जलीय धारणा (वारुणी धारणा) तथा
5—तत्त्वरूपवती धारणा

पार्थिवी धारणा—

शरीर मेरा है, मैं शरीर हूँ यह जो मन की पकड़ है इसे मिटाकर आत्मस्थ बनने के लिए पार्थिवी धारणा अत्यन्त उपयोगी है।

विधि—किसी एकान्त निर्जन स्थान में बैठकर अपने आप को क्षीर समुद्र (मध्य) में स्थित ऐसा महसूस करें। उसके बीच में जम्बूद्वीप जितना बड़ा (एक लाख योजन) एक हजार पत्तों वाला पुष्प के समान

अजीव विचय—जीव को आवृत करने वाली कर्म प्रकृतियों के स्वभाव, काल मर्यादा, फल और उसकी प्रदेश संख्या के बारे में चिन्तन करना।

विपाक-विचय—हेय के परिणामों का चिन्तन करना।

वैराग्य-विचय—शरीर संसार और प्राप्त भोगों की नश्वरता का विचार करते हुए उनके प्रति रहे ममत्व का विसर्जन करना।

भव-विचय—एक जन्म से दूसरे जन्म में जाना, सचमुच महान दुःख का हेतु है। नरक और तिर्यञ्च-गति में प्राप्त होने वाली यातनाओं और विवशताओं का स्मरण करके भव से विरक्त होने की कामना करना भव-विचय ध्यान है।

संस्थान-विचय—विश्व-रचना पदार्थाकृति और अपनी शारीरिक रचना का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन करना। हर पदार्थ का अपना एक आकार, सौन्दर्य और आत्मरूप होता है। शरीर एक पदार्थ है जिसकी रचना (सिस्टम) शरीर शास्त्र की दृष्टि से साधक के लिए जानना जरूरी है।

हमारे शरीर में कुछ ऐसी ग्रन्थियां हैं जिन्हें स्वस्थ और सबल बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ ऐसे सूक्ष्म नाड़ीकेन्द्र भी हमारे शरीर में हैं जिन्हें चक्र कहा जाता है। यदि उन चक्रों को जागृत किया जाए तो सम्भव है शीघ्र ही हम हमारे अस्तित्व-कोष की यात्रा में प्रवेश कर जाएं। कुण्डलिनी जागरण का कारण इन्हीं चक्रों में प्राणों को पहुंचाना है। योग-साधना के मुख्य चार चरण हैं—

1—स्वस्थ और सबल नाड़ी-संस्थान।
2-प्राण विषय के विविध-प्रयोग।
3-सन्तुलित और शान्त-मस्तिष्क।
4-आत्मोपलब्धि का हेतु—ध्यान।

क्रमिक-विकास करने वाले साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह सबसे पहले नाड़ी-संस्थान पर ध्यान दे। सम्भव है आज तक जो नाड़ियां सोई पड़ी थीं वे जाग उठें। हमारे शरीर में कुछ ऐसी भी ग्रन्थियां हैं जिनके बारे में आज का चिकित्सा-शास्त्र अपरिचित है। स्वस्थ नाड़ी-संस्थान और शान्त दिमाग उन्हें भी क्रियाशील बनाता है।

5-विशुद्धि चक्र—यह कण्ठ-कूप से अढाई अंगुल ऊपर है। इस चक्र पर संयम करने से बाह्यजगत की विस्मृति और अंतर चेतना का जागरण होता है। इस चक्र की जागृति के बाद साधक का मन सदा तरुण और सक्रिय रहता है। जीवन-व्यापी समग्र कलाओं का विकास इसी चक्र से होता है।

6-आज्ञा चक्र—योग में इस चक्र का बहुत महत्व है। इसमें इडा, पिंगला और सुषुम्णा, तीनों का मिलन होता है अतः इसे 'त्रिवेणी संगम' कहा गया है। इस एक ही चक्र के जागरण से भावी विकास की रेखाएं सम्भावनाएं अत्यन्त स्पष्ट हो जाती हैं। क्रमशः उस साधक को औरों से मार्ग-दर्शन लेने की अपेक्षा नहीं रहती। केवल आवश्यकता रहती है अनवरत लम्बे अभ्यास की।

7-सहस्रार चक्र—यह तालु के ऊपर स्थित समस्त शक्तियों का केन्द्र है।

चक्रों का यन्त्र

चक्र का नाम	स्थान	दल	रंग	दल बीजाक्षर	ध्यान ज्योति का स्वरूप	ध्यान का फल
[illegible]	[illegible]	4	रक्त	व, श, ष, स	निराकार स्वर्णिम ज्योति	अध्यात्म विद्या प्रवृत्ति, आरोग्य
[illegible]	[illegible]	6	सिंदूरी	ब, भ, म, य, र, ल	बिजली की रेखा	वासनाक्षय, ओजस्विता
[illegible]	नाभि	10	नील	ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ	बाल सूर्य	आरोग्य, आत्म-साक्षात्कार ऐश्वर्य
[illegible]	हृदय	12	अरुण	क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ट, ठ	अग्निशिखा	यौगिक उपलब्धियां, आत्मस्थता
विशुद्ध	[illegible]	16	धूम्र	अ, से अः तक	दीपशिखा	कामना-विजय
आज्ञा	भ्रूमध्य	2	श्वेत	हं, क्ष	शरच्चन्द्र की ज्योति	अन्तर्ज्ञान, वाक-सिद्धि
सहस्रार	[illegible]	[illegible]	[illegible]	अ से क्ष तक	प्रचण्ड तेज	मुक्ति

6–शुभ प्रक्रिया, कर्म प्रकृतियाँ एवं पर्यायियाँ क्या हैं,

7–महापुरुषों की आत्म-कथाएं।

इस प्रकार के आत्म चिन्तन से क्रमशः मन की एकाग्रता बढ़ती है। क्योंकि इससे विपुल कर्म निर्जरण होता है। पवित्रता पवित्रता को जन्म देती है। इस ध्यान पद्धति से ध्याता वीतरागभाव को प्राप्त करता है। शीत उष्ण, सुख दुःख राग द्वेष आदि द्वन्द्वों पर वह शीघ्र ही विजय पा सकता है।

हेतुविचय

जो तत्त्व तर्क से ग्राह्य हैं उनकी मानसिक सूक्ष्म समीक्षाएं करना जैसे–आज केवल्य क्यों नहीं हो सकता अज्ञानी आत्मा के अधिक बंधन क्यों होता है आदि

अपाय विचय और विपाक विचय

ध्यान आत्म चिन्तन में अधिक उपयोगी है। अपने कृतकर्म और उनके कटु परिणामों को यथावत् पहचानने की क्षमता इस ध्यान से प्राप्त होती है।

ध्यान के आठ अंग

ध्यान को जानने के साथ साथ उसके आठ अंगों को जानना भी आवश्यक है—

1–ध्याता – जिसमें अपने स्वरूप को जानने की जिज्ञासा है वह ध्यान का अधिकारी है। मुक्त होने की इच्छा इंद्रिय और मन को नियन्त्रित करने की क्षमता और आत्मा को संवृत रखने की वृत्ति ध्याता के प्रधान गुण हैं।

2–ध्येय—यथार्थ वस्तु का चिन्तन करना।

3–ध्यान – किसी एक विषय पर मन को केन्द्रित करना।

4–ध्यान का फल—पवित्रता (निर्जरा) तथा अन्तर्मुखी वृत्ति का विकास।

5–स्वामी—अप्रमत्त मुनि ध्यान का सच्चा स्वामी है।

6–योग्य क्षेत्र—जहां बैठकर ध्यान लगाया जा सके। प्रकार स्थान का मन पर अच्छा असर होता है। शास्त्र में कहा गया है —

(1) [illegible] मन [illegible] ध्यान [illegible]।
[illegible] ॥

(2) [illegible] अक्षय [illegible]।
[illegible] ध्यान [illegible] ॥

—ज्ञान० पृष्ठ 26/[illegible] 8।

जहाँ राग आदि आत्म-दोष क्रमशः अल्प होते है, उस स्थान को साधना के लिए चुनना चाहिए। बुरे स्थान का मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

७-योग्य काल—वातावरण की स्वच्छता और अनुकूलता समय-सापेक्ष है। उचित समय में शरीर और मन सहज प्रसन्न होते है। महर्षि [illegible] ने कहा है—

[illegible] वापि शरदि योगारम्भ समाचरेत् ।
तदा योगी भवेत् सिद्धो विनाऽऽयासेन कथ्यते ॥

—प्रकरण–5/श्लोक-15

८-योग्य मुद्रा—जिस स्थिति में (आसन) बैठकर सुखपूर्वक ध्यान किया जा सके।

प्रारम्भ में इन आठों की अनुकूलता अपेक्षित होती है, अतः प्रत्येक ध्यान-योगी अपनी शारीरिक, मानसिक तथा वातावरण की अनुकूलता [illegible] ध्यान-पथ पर बढ़ता रहे।

मन को एकाग्र करें। हमने कभी अनुभव किया श्वास पर ध्यान जमाते ही मन का आसन छूट जाता है, बदल जाता है। मन कहीं से खिसकता हुआ सा नजर आता है। यदि प्रतिदिन कम से कम पांच बार हम ऐसा करें तो आगामी कुछ दिन में पूर्व हम कुछ और हो जायेंगे। बहुत सम्भव है मन अपना चिर परिचित विहार-क्षेत्र उस समय तक बदल दे आत्मोन्मुख बन जाए।

दूसरा साधन है—दिन में कम से कम दो बार आप शान्त होकर इस प्रकार बैठें कि आप क्यों बैठे हैं इसका उत्तर आपके दिमाग से निकल जाए। वैसे आपके बैठने का कारण है—आज तक आपने जिस चीज को देखा नहीं अनुभव किया नहीं पाया नहीं उसे पा सकना। उसकी पूर्व कल्पना नहीं होती—वह कैसा है क्या है कहां है आदि-आदि। जब चेतना की उपस्थिति के सिवाय कुछ नहीं बचेगा तब आप किसी अनन्त में घूमते हुए से नजर आयेंगे। उस समय तक चेतना की दिशा बदल जायगी।

ध्यान के पहले भावना

जैन तपोयोगी की व्याख्या में भावना शब्द का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं मिलता वह स्वाध्याय का अंग है। ध्यान से पूर्व स्वाध्याय करना चाहिए। इससे ध्यान की ठीक ठीक पृष्ठभूमि तैयार होती है। जैनाचार्यों ने कहा भावना से ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। इससे इन्द्रियों का विषय सम्बन्ध शिथिल होता है। मन तदर्थ भावना से भावित होकर ध्यानाविष्ट हो जाता है। भावना ध्यान का प्रवेश द्वार है। ध्यान शतक में चार भावनाओं का उल्लेख है—ज्ञान भावना दर्शन भावना चारित्र भावना और वैराग्य भावना। इनमें से किसी एक के सहारे साधक ध्यान की स्थिति तक पहुंचता है।

> पुव्वं कयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ,
> ताओ य णाण दंसण चरित्त वेरग्ग नियताओ।

ध्यान खोलने के बाद अनुप्रेक्षा

नशा बुरा होता है क्योंकि वह हमारी पूर्व स्थिति को बदल देता है। किन्तु ध्यान एक भिन्न प्रकार का नशा है जो भीतर से पैदा होता है। [illegible] इन्द्रियों [illegible] प्राप्त होता है। [illegible] भिन्न [illegible] चेतना के [illegible] महसूस करता है। कुछ समय के बाद ध्यान [illegible] है। [illegible] है—मन को

तत्काल बहिर्मुख नही बनने दिया जाए। कुछ समय तक अनुप्रेक्षा की जाए, अर्थात्—ध्यान खोलने के बाद जीवन और जगत के सम्बन्धो के प्रति चिन्तन किया जाए। ध्यान शतक मे अनुप्रेक्षा के चार भेद बताये गये है—

> आसवदारावाए तह संसार सुहाणु भाव च,
> भव-संताण मणत वत्थूण विपरिणामं च।

1. आश्रव-द्वार-अपाय-चिन्तन—मिथ्यात्व आदि आश्रवो की परिणति कितनी दुःखकर है, ऐसा चिन्तन।
2. संसार अनुभाव-चिन्तन—सासारिक घटनाओ का चिन्तन।
3. भव-परम्परा का चिन्तन—संसार की अनादि, अनन्त तथा सतत भव-परम्परा पर विचार।
4. वस्तु विपरिणाम—परिवर्तनशील, अशाश्वत जड़-चेतन पदार्थों का सूक्ष्मता से चिन्तन।

भीतर कैसे जाए ?

शरीर, प्राण और मन तीनों का परस्पर सम्बन्ध है। बलवान शरीर प्राण को परिपुष्ट करता है और परिपुष्ट प्राण मनोलय का हेतु है। पहले प्राण और मन की गति का तादात्म्य करना होता है। जहां श्वास जाता है वहां मन पहुंचता है। श्वास के शिथिल होने से मन स्वतः शिथिल (निर्विषय) हो जाता है। श्वास की व्यग्रता में मन व्यग्र होता है। भीतर जाते समय शरीर शिथिल, श्वास धीमा किन्तु गहरा होना चाहिये। ध्यान करने में पहले शरीर को किसी एक आकार में स्थिर करदें। क्रमशः कायोत्सर्ग विधि के अनुसार मन को शिथिल अर्थात् चिन्तन-शून्य करदें। यदि ऐसा प्रारम्भ में न हो सके तो किसी एक आलम्बन पर मन को थाम दें। बहुत बार मन के तन्मय न होने में संकल्प विकल्पों का चित्रपट बाधक बनता है। इसीलिए साधक को बाह्य के प्रति निर्लेप भाव बढ़ाते रहना है। जैन दृष्टिकोण के अनुसार जो जीव के शुद्ध-लक्षण हैं वे ध्यान के आलम्बन हैं। जीवन की सहज क्रियाओं के साथ हमारा तादात्म्य होना चाहिए। आत्म-तन्मयतापूर्वक बोलना चलना और खाना ध्यान है। वस्तुतः आत्म-बोध ही ध्यान है। ध्यान के साथ हम जो शून्यता का बोध होता है वह आत्मगत नहीं, व्यवहारगत है। बाह्य-जगत् के प्रति हमारी जितनी तीव्र शून्यता होगी उतनी ही अन्तर जागरूकता बढ़ेगी। इसी शून्य अवस्था को योगाचार्यों ने एकीकरण तथा समापत्ति कहा है।

मन की मुख्य दो अवस्थाएं हैं—चल और स्थिर। चल अवस्था को चेतना या प्रयोग-मन और उसकी स्थिर अवस्था को 'ध्यान' कहा जाता है। मन को एक साथ कल्पनारहित नहीं किया जा सकता। उसे ध्यान योग्य बनाने के लिए प्रारम्भ में धर्म ध्यान के आलम्बन स्वरूप भावनाओं का अभ्यास करना चाहिए। महापुराण में [illegible] की [illegible] का

चित्त-शुद्धि

साधक की दैनन्दिनी
दैनिक साधना क्रम
दैनिक पर्यालोचन
योगाभ्यास के तीन वर्ग
प्राचीन साधना विधियाँ
दमन-योग
स्वाध्याय-योग
संवर योग
उपवास-योग
दैनिक चर्या में उपवास
साधना के विघ्न

•

साधक की दैनंदिनी

नित्य प्रति डायरी लिखना प्रत्येक साधक के लिए उसके समुचित विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साधना के पथ पर आरूढ़ होते ही साधक की चर्या में एक स्वीकृत मर्यादा की सीमा प्रारम्भ हो जाती है। दैनंदिन जीवन में किये जाने वाले अनेक मर्यादा विरोधी कार्यों को करने से पूर्व अब उसे अपनी स्वीकृत मर्यादाओं को सामने रख कर कदम बढ़ाना है। सद् और असद् के इसी अन्तर्द्वन्द्व में साधक के विकास का प्रारम्भ होता है। इस अन्तर्द्वन्द्व को जब साधक साक्षी-भाव से प्रत्यक्ष करने बैठता है तो वासनात्मक प्रवृत्तियाँ भयभीत सी होने लगती हैं। यह घने अंधकार में प्रकाश फैलाने जैसा कार्य है। साधक जब भाव जगत में होने वाले विचारों तथा बाह्य जगत में किये गये आचारों का लेखा जोखा लेने बैठता है तब उसका आत्म-स्वरूप ही मार्गदर्शक बनकर पथ प्रशस्त करने लगता है।

साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने जीवन की एक दिशा निर्णीत करे क्योंकि जीवन में विभिन्न कर्म सम्पादित करने होते हैं। उन सब कार्यों में सुनियोजित दैनिक अध्यात्मचर्या का होना अनिवार्य है। जीवन में समयाभाव तथा कार्य-बाहुल्य जितना अध्यात्म प्राप्ति में बाधक है उससे कहीं अधिक लक्ष्य-अनिश्चय तथा जीवन में व्याप्त अनन्त वासनाएं बाधक हैं। दैनंदिनी जहां व्यक्ति के कर्म में चमत्कार पैदा करती है, वहां वासनाओं के पीछे भटकने वाले मानव मन के अंकुश भी होने में सहायता भी करती है। स्वयं-साधक निर्धारित दैनिक चर्या के सहारे क्रमानुसार शुभ कर्मों तथा उन्नत परिणामों से अपना बचाव (आत्मरक्षा) करता है। धीरे धीरे वह अपने सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण आस्थावान बनता है। अपना ऐसा कौन होगा जो अपने ही द्वारा बनाये गये सिद्धान्तों को खंडित होते हुए देखना चाहेगा। दैनंदिन साधना पद्धति का सर्वश्रेष्ठ रूप

है—अभ्यास के द्वारा चैतन्य को जागृत करना तथा जागृत चैतन्य को स्थिर बनाए रखने का प्रयास। वैराग्य-बीज के फलने के लिए अभ्यास के उर्वर धरातल की अपेक्षा है। शस्त्र चाहे कितना ही तीखा हो वह कुछ समय [illegible] ही काटता है। कई बार घर्षण और आवृत्ति के बाद ही अपना [illegible] दिखा पाते है। क्या यही क्रम हमारी वृत्तियों के छेद और शोधन का नहीं है? समय के नियमित अभ्यास से आत्म-दर्पण पर जमी मैली परतें [illegible] धीरे-धीरे विलीन होती हुई प्रतीत होती हैं।

बड़े-बड़े लेखकों, साहित्यकारों, चिन्तकों, विचारकों एवं समाज सुधारकों ने अपने दैनंदिन जीवन को इस आत्म-निरीक्षण की प्रक्रिया से ऊंचा उठाया है तथा हर सामान्य साधक का यह नित्य कार्य है। अन्धकार से प्रकाश की ओर निरन्तर बढ़ते रहने से आत्म निरीक्षण का यह मार्ग दृष्टि में अत्यन्त ही उपयोगी एवं प्रभावी सिद्ध होगा तथा साधक अपने प्रति पूर्ण ईमानदारी बरतते हुए इस मनोवैज्ञानिक विधि से अपने आत्म विकास में अग्रसर होंगे, ऐसी आशा है।

दैनिक साधना-क्रम

इष्ट का स्मरण :

प्रातः उठते ही अपने इष्ट का ध्यान करें।

(एक मिनट से पाँच मिनट तक)।

योगासन

सामान्यतया स्वस्थ व्यक्ति को दैनिक साधना क्रम में कम से कम बीस मिनट का समय निम्नलिखित आसनों के लिए देना चाहिए—

1- पद्मासन	2- कूर्मासन
3- जानुशीर्षासन	4- पश्चिमोत्तान आसन
5- पवनमुक्तासन	6- शलभासन
7- भुजगासन	8- हलासन
9- सर्वांगासन	10- मत्स्यासन
11- शवासन	

मानसिक स्थिरता के लिए—(ध्यान के पूर्व)

1- गोदोहासन	2- पद्मासन
3- सिद्धासन	4- योगमुद्रा
5- महामुद्रा	6- पश्चिमोत्तान
7- शाम्भवीमुद्रा	8- कायोत्सर्गासन

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए—

1- गोदोहासन	2- गोमुखासन
3- उत्कटुकासन	4- पवनमुक्तासन
5- मुद्रासन	6- उदर शक्ति क्रियाएं
7- सिद्धासन	8- अश्विनीमुद्रा
	9- कायोत्सर्गासन

सभी आसनों के पश्चात तथा प्रत्येक आसन के साथ विशेष शारीरिक लाभ और मानसिक प्रसन्नता के लिए कायोत्सर्ग का प्रयोग विशेष लाभप्रद है। जो साधक केवल कायोत्सर्ग करना चाहते हैं उन्हें शरीर, श्वास और विचार तीनों को एक साथ शिथिल करके अप्रमत्त हो जाना चाहिए।

प्राणायाम

शरीर को ऊर्जा-सम्पन्न तथा मन को एक निरुपाधि बनाए रखने का सामर्थ्य प्राणायाम से प्राप्त होता है। सामान्यतया आसनों के पश्चात्

है। इस बाह्य-कुम्भक की स्थिति को पूरा करके पुनः विपरीत स्वर से, अर्थात् सूर्य-स्वर से पूरक किया जाता है।

कुम्भक में प्राणवायु को किसी एक चक्र पर या समग्र चक्र-जाल पर घुमाते हुए स्थिर किया जा सकता है। यह प्राणायाम ध्यान के पूर्व, माला-जाप के साथ अथवा सामायिक आदि क्रियाओं में अनेकों बार किया जा सकता है परन्तु कुम्भक का समय अपने सामर्थ्य के अनुसार बढ़ाया जाए।

जाप

जाप चेतना को किसी एक पवित्र ध्येय के साथ जोड़ता है। जाप करते समय तन्मयता, वाचिक स्पष्टता और लयबद्धता का विशेष ध्यान रखना होता है। कुछ दिनों तक साम् 'अर्हम्' सोहं आदि किसी भी सक्षम मन्त्र का जाप नादपूर्वक करना चाहिए। इस प्रकार के जाप से वायुमण्डल प्रभावित होता है और ज्ञानेन्द्रियों का शोधन होता है। इस अभ्यास के सध जाने पर उसी मन्त्र का प्राणायामपूर्वक (श्वास प्रश्वास के साथ) तथा चक्रों पर मानस-जाप किया जाता है। इस जाप से चेतना अन्तर्मुखी होकर स्वतः ध्यानस्थ हो जाती है।

ध्यान

ध्यान किया नहीं जाता प्रत्याहार और अन्तरधार की तरह यह चेतना पर उतरता है। सुयोग्य ध्याता बनने के लिए स्वाद-संयम आसन दृढ़ता, संकल्प-बल, कायोत्सर्ग और यथायोग्यता का होना आवश्यक है।

ध्यान की विधियां—सरल आसनों के साथ का नाम ही ध्यान है। क्रमिक विकास की दृष्टि से ध्यान का निम्नांक क्रम से अभ्यास किया जा सकता है।

—शरीर शिथिलता (कायोत्सर्ग)

—श्वास सूक्ष्मता

—विचार शून्यता

इस अभ्यास के बीच अर्थात् निर्विचारता के बाद [illegible] के सूक्ष्म होते ही अन्दर किसी एक आलम्बन पर मन को केन्द्रित किया जा सकता है यथा—

दैनिक पर्यालोचन

1-क्या मैंने प्रातः उठते ही इष्ट का ध्यान किया है ?

2-क्या मैंने आज अपने दैनंदिन क्रम के अनुसार योग साधना या भाव-क्रिया पूर्वक स्थिर चिन्तन से सम्पन्न किया है ?

3-क्या मैंने दिनभर के कार्यकलापों में मानवीय नियमों की अवहेलना जानबूझ कर की है ?

4-क्या मेरे दिनभर कार्यकलापों में तात्कालिक परिस्थितियों के दबाव में अथवा भूलकर प्रभो की अवहेलना हुयी है अर्थात् अत्यधिक आर्थिक-हानि अथवा लाभ के लिए पूरा देय या अखाद्य पदार्थों के सेवन जैसे कार्य सम्पन्न हुए हैं ?

5-क्या मैंने इस अपराध अथवा भूल के लिए रात्रि ही कोई प्रायश्चित करने की दिशा में आत्मसंकल्प किया है ?

6-क्या मैंने दिनभर में वैचारिक स्तर पर ऐसा कोई चिन्तन का संकल्प किया है जिसके फलस्वरूप निकट भविष्य में मेरी आत्मशक्ति की हानि पहुँचने की सम्भावना हो ?

7-मेरे सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक महिला के बारे में क्या मेरे हृदय में मातृ भाव या भगिनी भाव जागृत हो रहा है ? इसी प्रकार स्त्री-साधिका यह चिन्तन करें कि क्या उनके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक पुरुष को देखकर उनके हृदय में भ्रातृभाव या पितृभाव जागृत हो रहा है ?

8-क्या मेरे हृदय में धन अन्य परिग्रह के प्रति भाव दृढ़ होते जा रहे हैं ?

9-क्या किसी भी [illegible] दलित मानव को देखकर मेरे हृदय में सहानुभूति संवेदना और सहयोग के भाव उत्पन्न होते हैं क्या क्या मैं तदनुसार अपनी सामर्थ्य और शक्तियों के अनुरूप एवं

5-आहार-विवेक, निद्रा-विवेक और वाणी-विवेक—इस त्रिवेणी में नहाने वाला साधक निश्चित शान्ति, शक्ति और स्वस्थता का अनुभव करता है। ये ही तीन बातें योग की भूमिका हैं।

6-कायोत्सर्ग-देह विसर्जन के बाद अन्तर की खोज प्रारम्भ होती है। साधक प्रारम्भ में भले ही लम्बा कायोत्सर्ग न कर सके, पर हर [illegible], [illegible] के तुरन्त बाद शिथिल होना सीखें।

7-ध्यान—ध्यान जीवन को रोचक बनाता है। नयी सम्भावनाओं के द्वार खोलता है। इसे साधने वाला कुछ दिनों के बाद [illegible] बन जाता है। इस अभ्यासक्रम में कम से कम एक घण्टा ध्यानस्थ होना आवश्यक है।

2–प्रतिक्षण अस्तित्व के प्रति जागरूक बने रहें।

3–लम्बे मौन का (महीनों, वर्षों तक) अभ्यास करें।

4–भीड़ में रहते हुए एकान्त की अनुभूति का अभ्यास करें। इसमें अन्तर्नाद-श्रवण, स्वर-दर्शन और द्रष्टा भाव, सहयोग करते हैं। यथासम्भव किसी एक को चुनलें।

प्राचीन साधना विधियां

साधना के मूल तत्त्व तीन हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। साधना की [illegible] चारित्र प्रतिष्ठित है—

5-इन्द्रिय प्रतिसंलीनता प्रधान कक्षाए -

प्रथम—इन्द्रियों को अपने अपने गोलकों में स्थिर करना

द्वितीय—विषयों का निर्लिप्त भाव से सम्पर्क

6-मनोनिग्रह प्रधान कक्षाए —

प्रथम—विषयों से मन को हटाकर किसी आलम्बन,विशेष पर थामना ।

द्वितीय—विषयों को दृष्टा बनकर देखने का अभ्यास,

गमन-योग

दृष्टु दृगात्मा मुक्तिः दृश्यैकात्मय भव भ्रम'। चेतना के साथ एकात्मक होना मुक्ति है और दृश्य के साथ तद्रूप होना संसार है।

जीवन के प्रत्येक स्थूल व्यवहार पर हर एक धर्म प्रवर्तकों ने अपने शिष्यों का ध्यान आकर्षित किया है। इससे लगता है कि वे इसमें कुछ अलौकिक पाते थे। भगवान महावीर नवदीक्षित साधुओं को सर्वप्रथम कहते थे—यतना से चलो, यतना से बैठो, यतना पूर्वक खड़े रहो और यतना से शयन करो। यही संयत जीवन है। यही जीने की कला है और यही योगभूमि है। यही बात एक बार फिरोज भाई ने वार्तालाप के दौरान में कही—यदि हम चलना जानते हैं तो आगे का द्वार स्वयं खुल जाएगा। रीढ़ सीधी रखने का अर्थ है—सुषुम्ना का अवरोध और सुषुम्ना के अनवरोध का परिणाम है—सहज-स्थिरता। ध्यानपूर्वक चलने का हृदय-स्नान है—शक्तियों का क्षरण न होना। मुझे वर्षों तक चलने की ही साधना करवाई गयी। मेरा प्रथम गुरु मन्त्र भी यही था—चलना सीखो। अधिक क्या? कुण्डलिनी जागरण का श्रेय भी गमन-योग को प्राप्त हुआ। अतएव ध्यानी सन्तों के शब्दों में यह सरल और अधिक स्पष्ट हुआ, तुम्हारे लिए विशेष प्रयत्न करने की जरूरत नहीं। केवल एक ही काम है—कुछ विशेष न करके साधारण काम करते रहना जैसे चलना, खाना पीना मलमूत्र त्याग करना और थकने पर लेट जाना यही ध्यान है। महात्मा बुद्ध सदा ध्यान के लिए स्थित रहते थे। बोधि लाभ के बाद वे कभी ध्यान शून्य नहीं रहे। वे टहलते हुए अति प्रखर और गहरा ध्यान करते थे। एक बार भगवान बुद्ध आतुमा के भुसागार में ठहरे हुए थे। भयंकर वर्षा हुई। बादलों की घोर गड़गड़ाहट के साथ बिजली गरज कर उस भुसागार के पास गिरी। जिससे दो किसान तथा चार बैल मर गए। परन्तु महात्मा बुद्ध ने न बादलों की गड़गड़ाहट सुनी और न बिजली का गिरना देखा जबकि वे भुसागार के द्वार पर पूर्ण जागृत अवस्था में ध्यान में टहल रहे थे। चित्त की यही शान्त और अनासक्त अवस्था ध्यान है।

यद्यपि मन का आलम्बन व स्वप्नयोग की पूर्ण क्रिया उपलब्ध नहीं होती तथापि [illegible] ग्रन्थों पर [illegible] भिन्न-भिन्न [illegible] विवेचन हुआ है। [illegible] आदि [illegible] का प्रयोग और [illegible] से भी हुआ है। बोध निवृत्ति [illegible] है—

(1) अनुसूर्य गमन–तेज धूप में पूर्व से पश्चिम की ओर जाना।

(2) प्रतिसूर्य गमन–पश्चिम से पूर्व की ओर जाना।

(3) ऊर्ध्व सूर्य गमन–सूर्य मध्य में हो तब जाना।

(4) तिर्यक् सूर्य गमन–सूर्य तिरछा हो तब जाना।

(5) ग्रामानुग्राम गमन–भिक्षार्थ दूसरे गांव जाना।

(6) प्रत्यागमन–दूसरे गांव जाकर वापस आना।

प्रत्येक साधना पथ के पथिक को यह चाहिए कि वह गमन-योग को [illegible] की प्रथम किरण मानकर उसे [illegible]।

स्वाध्याय योग

जीवन यात्रा पथ को निर्बाध रखने के लिए बौद्धिक-सात्विकता का होना अनिवार्य है। यह जीवन के हर मोड़ पर पायलट का काम करती है, आगे का संकेत देती है। स्वाध्याय ज्ञान-ज्योति को सत्य-गवेषणा के लिए प्रज्ज्वलित करती है जैसे दीप से पदार्थ-सत्ता (ज्योति) स्पष्ट होती है वैसे ही स्वाध्याय-दीप से आत्मा तथा पदार्थ दोनों की यथार्थता स्पष्ट होती है। कहा जाता है कि ग्रहण रहित सूर्य की रश्मियाँ जैसे सब दिशाओं में निर्बाध गति से फैलती हैं वैसे ही स्वाध्यायकर्ता की बुद्धि तत्त्वबोध में सीधी जाती है। इस प्रकार बढ़ता हुआ बुद्धिबल आत्मबल में सहायक होता है। क्योंकि स्वाध्याय करने वाला ज्ञानावरण को अधिक से अधिक क्षीण करता हुआ आत्मज्ञान की गहरी गुफा में स्वयं प्रविष्ट हो जाता है।

आत्मरमण का हेतु—स्वाध्याय

ज्ञानी जीवन के बारे में सोचता नहीं अपितु उसे अपनी पैनी आँख से देखता है, यही दृष्टा है। इसी आधार पर आत्मज्ञानी सन्तों को विचारक नहीं कहकर दृष्टा कहा गया है। यह सनातन दृष्टा भाव ध्यान से निकलता है, किन्तु ध्यान की पूर्व भूमिका का निर्माण स्वाध्याय से होता है भावना से होता है। आत्मरमण हेतुक रहित स्वाध्याय केवल समय यापन और ज्ञान-वृद्धि का हेतु है। मनुष्य जिन कर्मेन्द्रियों के सहारे (सुनकर, सूँघकर, चखकर तथा स्पर्श कर) बाह्य जगत् से सम्बन्ध स्थापित करता है उन्हीं इन्द्रियों को पर से हटाकर स्व में संनिहित करना स्वाध्याय का उद्देश्य है। जिस साधक ने हजारों पृष्ठ शास्त्र पढ़े हैं किन्तु दर्पण की तरह बाहर से जो धूल आकर मन पर जमा हो रही है उसे देखना और हटाना उसने नहीं सीखा तो शास्त्राध्ययन भी एक भार सा है। क्योंकि वह इन्द्रियों की

अकषाय योग

कषाय जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। अर्थ की भाषा में इसे प्रकम्पन, उत्ताप, आवेग और आवर्त कह सकते हैं। निश्चय-नय की दृष्टि से चैतन्य के शान्त सागर में विक्षोभ उत्पन्न होना कषाय है।

आचार्य अमित गति ने लिखा है—कषायाकुल जीव पर द्रव्यों की ओर प्रवृत्त होता है। पर द्रव्यों का यह बढ़ता हुआ आकर्षण देहात्मभिन्नता के बोध को क्षीण करता है। या भेद विज्ञान के क्षीण होने पर आत्म-बोध की टिमटिमाती लौ सदा-सदा के लिए मिथ्यात्व तिमिर से भर जाती है। अतः प्रत्येक साधक को सर्व प्रथम कषाय विजय की साधना प्रारम्भ करनी चाहिए। इस साधना के अभाव में सारे योग असफल रहते हैं। और क्या? कषाय की तीव्रता के कारण जो साधनाएं प्रगति पर हैं जहां से परदा हट चुका होता है और शिखर की अन्तिम मंजिल पर पहुंच गया है उन सब को बीच में ही भटक जाना होता है।

कषाय-विजय में समर्थ साधक

जिसे चेतना के निष्कर्ष धरातल पर जीना है उसे कषाय-विजय पर ध्यान देना होगा। कषाय-विजय में वही साधक समर्थ हो सकता है—

1 जो लोकाचार (व्यवहार कुशलता) से ऊपर उठा हुआ हो।
2 जिसमें लोकमत संग्रह की भावना नहीं हो,
3 जो कभी क्रोधादि कषायों की पराकाष्ठा पर प्रयोग से पहुंचा हो, तथा
4 जिसमें आत्मोपलब्धि की तीव्र भावना हो।

अलौकिक-साधना

लगभग सभी जैनाचार्य आसन प्राणायाम ध्यान और [illegible] अनुष्ठान जो मानसिक स्थिरता के लिये काम में लिए जाते हैं वे सब अलौकिक

साधना के विघ्न

साधक विघ्नों से घबराता नहीं अपितु वह उस परिस्थिति में धैर्य बनाए रखने की तैयारी करता है।

विघ्न दो प्रकार के होते हैं,

1-स्थूल विघ्न 2-सूक्ष्म विघ्न

स्थूल विघ्न—देशकाल की प्रतिकूलता, शारीरिक-अस्वस्थता, वातादि उन्माद तथा सहयोगियों की सहानुभूति व प्रतिकूलता।

सूक्ष्म विघ्न—ये व्यक्ति के अपने द्वारा निर्मित किये होते हैं। ये भीतर में उत्पन्न होते हैं और धीरे धीरे भीतर से बाहर सब को व्याप्त कर लेते हैं, जैसे—

1-गलत सही मूल्यांकन दृष्टिकोण

2-स्वनिर्मित रूढ़ धारणाएं

3-स्वभाव परिवर्तन में अनास्था,

4-संकल्प-हीनता,

5-आग्रह की अधिकता,

6-अहं की सराग्य,

7-हीन मनोभावना व भय।

साधक सूक्ष्म-विघ्नों के निवारण में दूसरों के मार्ग-दर्शन का लाभ उठा सकता है किन्तु विश्लेषण करना ही सर्वाधिक चिन्तन और आत्मबल उस सहयोग कर सकता है।

आत्म-साधन का यह मार्ग निरन्तर सजग एवं स्पष्ट रहने का है। इस अभ्यास के अतिरिक्त साधक को मनन-स्वाध्याय एवं आहार-विवेक

परिशिष्ट शब्दानुक्रम

समवृत्तिक प्राणायाम 103
समान 82
सबर योग 186
सवेदन नाड़ी 20
सर्वांगासन 47
स्मृति प्रस्थान 190
सस्थान विचय, 147
सहज कुम्भक "3
सहस्रार 149
सहित प्राणायाम 94
स्पन्दन रहित पलकें 73
सामान्य धारणा, 143
स्वाध्याय, 8 184
स्वाध्याय योग 184
स्वाधिष्ठान, 148
स्वामी 153
सिद्धासन, 54
स्थिति विभ्रय 4
सुखासन 55
सूक्ष्म क्रियायें 3°
सूर्यभेदी प्राणायाम 94
स्थूल आसन 37

श

शक्ति, 112
शलभासन 44
शवासन 34 40
शाम्भवी मुद्रा, 56
श्वास दर्शन 70½
शीतली कुम्भक 95

ह

हलासन,47
हेतु विचय 153

उन आसनो के चित्र जिनके विवरण ग्रंथ में (अंकित पृष्ठ संख्या पर) दिये जा चुके हैं ।

उदर गुदन (पृष्ठ 33)

उदर मथन (पृष्ठ 33)

उदर कर्षण (पृष्ठ 33)

[illegible] पर्यंक आसन (पृष्ठ 34)

भुजंगासन (विशेषमुद्रा)
(पृष्ठ   )

जानुबद्ध पश्चिमोत्तान (आसन) दूसरी विधि
(पृष्ठ ४२)

योग मुद्रा (आसन की निवृत्ति)
(पृष्ठ ४)

उष्ट्रासन

4-उष्ट्रासन

विधि—दोनों टांगों के घुटनों को मोड़कर उन पर खड़े हों। पीछे की ओर पूरा शरीर झुका कर हाथों से पैरों की एड़ियां पकड़ लें। मुख आकाश की ओर हो पूरक करके कुम्भक रखते हुए भी इसका अभ्यास किया जाता है।

लाभ—पसलियां और ग्रीवा सुदृढ़ बनती है। पेट और कमर का मुटापा कम होता है। विशेष नाशक है। उदर विकार नहीं होते।

5-नौकासन

विधि—भूमि पर चित्त लेटें। भुजाएं सीधी तानकर हथेलियां जोड़ दें। टांगों को भूमि से पूरी तरह ऊपर उठाकर तानें। पीठ भूमि से लगी रहे। गर्दन और भुजाएं भी ऊपर की ओर तान दें। रेचक करते समय पूर्व स्थिति में आ जाएं।

नौकासन

लाभ—अनावश्यक डकारें, हिचकियां दूर होती हैं। छोटी-बड़ी आंतों को बल मिलता है।

12-पद्मासन सहित सर्वांगासन

पद्मासन सहित सर्वांगासन

विधि—चित्त लेटकर पैरों को पद्मासन की स्थिति में करलें फिर पैरों को धीरे धीरे ऊपर उठायें। कमर को हाथों से सहारा देते हुए शरीर को गर्दन व कन्धों के बल इतना उठालें कि पेट व छाती सीधे खड़े हो जायें। गुदा तथा मूत्रेन्द्रिय का संकोच करें। समय एक से तीन मिनट पर्याप्त है।

लाभ—वीर्य सम्बन्धी सभी रोगों में विशेष लाभकारी है। ब्रह्मचर्य की साधना में सहायक है।

13-पादांगुष्ठासन

विधि—सीधे खड़े हों। श्वास भरते हुए हाथों को सीधा कर पीछे ले जायें। गर्दन पूरी तरह पीछे झुकें। फिर हाथ छाती और सिर को आगे झुकाते हुए हाथों से पैरों के अंगूठे पकड़लें। सिर घुटनों से लगादें। तीन से चार बार तक ऐसा करें।

लाभ—पेट के समस्त रोग दूर करता है। गर्दन सख्त ठीक हो जाती है। कमर तथा मेरुदण्ड सुडौल और निर्दोष बनते हैं।

पादांगुष्ठासन